नोट—२ *'अजहूँ तात त्यागि अभिमाना।.......'* इति। (क) उपदेश नम्र वचनसे लगता है, इससे भजनका उपदेश करनेमें *'तात'* सम्बोधन दिया और पूर्व उसकी मूर्खतापर विलखकर *'सठ' 'तैं'* आदि शब्दोंका प्रयोग किया था। (ख) अभिमान है, यथा—*'कथा कही सब तेहिं अभिमानी।'* अतः उसका त्याग कहा। ५५ (७) देखिये। पुनः भाव कि अहंबुद्धि और बलके गर्वसे तुमने परिणाम न विचारा, नहीं तो विभीषणके सिखावनका निरादर न करते। यथा—'**प्रथमं वै महाराज कृत्यमेतदचिन्तितम्। केवलं वीर्यदर्पेण नानुबन्धो विचारितः।**'; '**यदुक्तमिह ते पूर्वं प्रियया मेऽनुजेन च। तदेव नो हितं वाक्यं यथेच्छसि तथा कुरु॥**' (वाल्मी० ६३। ४, २१) (ग) *'भजहु राम होइहि कल्याना'।* यथा—*'राम भजे हित नाथ तुम्हारा।'* (५। ४१। ८) (घ) *'अजहूँ'* अर्थात् अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, इतनी हानि हुई सो हुई, आगे तो न हो। इतनी शत्रुता बढ़ जानेपर भी भजन करनेसे कल्याण ही होगा। वे प्रसन्न हो जावेंगे। यथा—'**त्यज वैरं भजस्वाद्य मायामानुषविग्रहम्। भजतो भक्तिभावेन प्रसीदति रघूत्तमः॥**' (अ० रा० ७। ६६)

हैं दससीस मनुज रघुनायक। जा के हनूमान से पायक॥३॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहि मोहि न सुनाएहि आई॥४॥

शब्दार्थ—**पायक**=(सं० पादातिक, पायिक) धावन, दूत, हरकारा—सेवक, अनुचर। ***खोटाई***=खोटा (बुरा, नीच) काम, कपट, छल, बुराई।

अर्थ—हे दशशीश! जिनके हनुमान्-सरीखे दूत और सेवक हैं, क्या वे रघुनायक मनुष्य हैं?॥ ३॥ अहह (खेद है, कष्ट है)! हे भाई! तूने बुरा किया कि पहले ही आकर मुझसे यह बात न सुनायी॥ ४॥

नोट—१ श्रीरामचन्द्रजीका मनुष्य होना काकुसे नहीं करना 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग' है कि वे ईश्वर हैं (वीर)। *'हैं दससीस.........'* इति। यथा—'**लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः। वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो भुवि॥**' (वाल्मी० ३४। २२) अर्थात् समुद्रको लाँघकर आये हुए हनुमान्का दर्शन तुम कर चुके हो, तथा जिस प्रकार उन्होंने राक्षसोंका वध किया है वह भी तुमने देखा है। क्या मनुष्य ऐसा कर्म कर सकेगा?

पं०—यहाँ हनुमान्जीका ही नाम लिया; क्योंकि रावण और मेघनाद भी उनका लोहा मान गये। जो दुष्कर्म इन्होंने किये वे आज लङ्कामें घर-घर सब गाते हैं। अन्तिम दुर्गम रामकार्य द्रोणपर्वत ही उखाड़ लाना तो अभी-अभी हुआ है, जिससे रावण अत्यन्त विषादयुक्त है।—(क्या खोटाई की और क्या लाभ होता, यह आगे स्वयं कहता है।)

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥५॥
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरबहा*॥६॥

शब्दार्थ—देवक=देवका। यह मिथिला-भाषा है (रा० प्र०)। निरबहना=अच्छी तरह बह जाना, निकल वा बीत जाना।

अर्थ—हे प्रभो! तुमने उस देवतासे विरोध किया जिसके शिव, ब्रह्मादि देवता सेवक हैं॥ ५॥ नारदमुनिने जो मुझसे ज्ञान कहा था वह मैं तुमसे कहता (पर) अब समय जाता रहा॥ ६॥

नोट—१ *'कीन्हेहु प्रभु बिरोध.........'* इति। अर्थात् ब्रह्मा और शिवजीके स्वामीसे वैर करके सुखकी चाह करना मूर्खता है; जिसके दुर्भाग्यका उदय होगा वही उनसे वैर करेगा। यथा—*'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥'* (उ० १०५) अतः उनसे विरोध न करना चाहिये था, यथा—*'सिव बिरंचि जेहि सेवहिं तासों कवन बिरोध।'* (४७)

वि० त्रि०—कुम्भकर्ण कहता है कि जन्मसे तुम्हारा स्वभाव परद्रोह करनेका है, (यथा—*'आजन्म ते पर द्रोह रत पापौघ मय तव तनु अयम्'*) किन्नर, देव, मनुज, खग, नाग, सबके पीछे तुम पड़े रहते हो,

---

* निर्वहा—(भा० दा०)। निरबहा—(का०)।

सबसे तुमने विरोध किया। विरोध करते-करते तुम्हारा मन इतना बढ़ गया कि शिव, विरंचि जिसके सेवक हैं उनसे विरोध कर लिया। 'शिव-विरंचि' कहनेका भाव यह कि इन्हींका तुम्हें भरोसा है, इन्हींके प्रसादसे तुम्हारी सर्वत्र विजय है और इतनी विभूति है। 'इसने स्वामीसे विरोध किया है', यह जानकर क्या शिव-विरंचि तुमसे प्रसन्न होंगे? वे सेवाधर्मका आश्रयण करके किसी-न-किसी रूपसे स्वामीकी सेवा करेंगे, तुम्हारे संहारके कारण होंगे। तुम प्रभु होकर ऐसा काम कर बैठे कि अब निशिचर-कुलकी रक्षा हो नहीं सकती।

नोट—२ *'नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा'* इति। अ० रा० ७। ५९—६५ में उसने रावणसे कहा है कि एक बार मैं रात्रिके समय वनमें एक विशाल शिलापर बैठा था। उस समय दिव्यदर्शन साक्षात् नारद मुनि दिखायी दिये। मैंने पूछा कि हे महाभाग! आप कहाँसे आ रहे हैं, कहिये। नारदजी, जो देवताओंकी सलाहवाली सभामें उपस्थित थे और वहींसे आ रहे थे, बोले कि उस देव-समाजमें जो वृत्तान्त उत्पन्न हुआ वह मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो। तुम दोनोंसे पीड़ित होकर देवता विष्णुके पास गये और उनसे प्रार्थना की कि आप राणका वध, मनुष्यरूप धारण करके कीजिये। देवताओंकी विनती स्वीकार कर वे राम-नामसे रघुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं और तुम सब राक्षसोंका वध करेंगे। यह कहकर नारद चले गये। अतएव हे रावण! तुम रामको परब्रह्म सनातन जानो।' यथा—'**एकदाहं वने सानौ विशालायां स्थितो निशि। दृष्टो मया मुनिः साक्षान्नारदो दिव्यदर्शनः॥ तमब्रुवं महाभाग कुतो गन्तासि मे वद। इत्युक्तो नारदः प्राह देवानां मन्त्रणे स्थितः॥ तत्रोत्पन्नमुदन्तं ते वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः। युवाभ्यां पीडिता देवाः सर्वे विष्णुमुपागताः॥'''''''''जातो रघुकुले देवो राम इत्यभिविश्रुतः। स हनिष्यति वः सर्वानित्युक्त्वा प्रययौ मुनिः। अतो जानीहि रामं त्वं परं ब्रह्म सनातनम्॥**' (अ० रा० ७। ५९—६५) रा० प० एवं बं० पा० लिखते हैं कि नारदजीने यह बताया था कि जब छः मासकी नींद पूरी होनेके पहले ही तुम जगाये जाओगे, तब समझ लेना कि तुम्हारा सबका नाश होगा।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'नारदजीने एकान्तमें रावणसे भी सब मर्म कहा है पर यह बात कुम्भकर्णको विदित नहीं है। नारदजीकी सलाहके अनुसार ही प्रभुके हाथ मरकर वैकुण्ठनिवास-प्राप्तिके लिये, जान-बूझकर ही रावणने सीताहरणरूपी अमोघ उपाय किया है। *'चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ।''''''''''''* (३। २३। ७) देखिये। भावार्थरामायण तथा अ० रा० में रावणने मन्दोदरीसे एकान्तमें यह सब कहा है।'

श्रीरामचरितमानसके रावण और अ० रा० के रावणमें फिर भी बहुत अन्तर है।

नोट—३ *'समय निरबहा'*। (क) बं० पा०—भाव कि यह बात सीताहरणके पूर्व ही कहनेकी थी, अब उसके कहनेका कुछ फल नहीं, क्योंकि छः मासके पहिले ही मुझे तुमने जगा दिया; देवर्षिका वाक्य असत्य नहीं हो सकता। (ख) रा० प०—पहिले कहा होता तो आज न मैं जगाया जाता, न नाश होता। अब कहनेसे तो नाश न रुकेगा।

प० प० प्र०—ज्ञानोपदेश करनेका अब समय नहीं है, क्योंकि तुम व्याकुलचित्त हो और अभिमानसे भरे हुए हो। ऐसी दशामें ज्ञान कहनेसे कुछ लाभ न होगा; यथा—*'ममता रत सन ग्यान कहानी।'* (५। ५८। ३), *'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल जथा॥'* (५। ५८। ४)

अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई॥ ७॥
स्यामगात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ तापत्रयमोचन॥ ८॥

शब्दार्थ—**अंक**=अँकवार। अङ्क भरना=हृदयसे वा गलेसे लगाना, दोनों हाथसे घेरकर प्यारसे दबाना।

अर्थ—हे भाई! अब गले लगकर मुझसे मिल ले, (अब तुम्हारी-हमारी भेंट फिर नहीं होनेकी, यह अन्तिम मिलाप है। अब मैं जीता नहीं लौटूँगा) मैं जाकर नेत्र सफल करूँ॥ ७॥ (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों तापोंके नाश करनेवाले, श्यामल शरीर और कमल-नयन श्रीरामजीका जाकर दर्शन करूँ॥ ८॥

नोट—१—*'अब भरि अंक भेंटु''''''''''''* इति। (क) *'अब'* का भाव कि जो हुआ सो हुआ, अब मैं युद्ध करने जाता हूँ, जहाँपर मुझे यह सब लाभ प्राप्त होंगे। *'अब'* पदमें ध्वनिसे वाल्मी० ६३। २३-२५ और अ० रा० ८। १-२ का भाव भी निकलता है कि उपदेश सुनकर रावण क्रोधित हो बोला कि

हमने क्या ज्ञान सिखानेके लिये तुझे जगाया है, जो नीतिमार्गसे चलायमान होनेपर भी सहायता करे वही 'बन्धु' है? हमारी आज्ञा मान नहीं तो जाकर सो रह। तब कुम्भकर्ण बोला कि मैं जाकर अभी सबको मारता हूँ। और भाईसे मिलकर तथा परिक्रमा एवं प्रणाम करके चल दिया। यथा—'**भ्रातरं सम्परिष्वज्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्। प्रणम्य शिरसा तस्मै प्रतस्थे स महाबलः॥**' (वाल्मी० ६५। ३२) (प्र० सं०)। पुनः, भाव कि यद्यपि श्रीरघुनाथजीसे विरोध करनेमें ऐहिक लाभ न तुम्हारा है न मेरा, यह मैं नारद-वचनसे ठीक-ठीक जानता हूँ तथापि तुम्हारे समाधानके और अपने परम हितके लिये लघु बन्धु-धर्म समझकर मैं श्रीरामजीसे युद्ध करने जाऊँगा। अतः मुझसे गले लगकर मिल ले (प० प० प्र०)। (ख) '*भाई*' का भाव कि नीतिसे चलायमान होनेपर भी मैं 'भायप' निबाहूँगा। यथा—'**स बन्धुर्योऽपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते।**' (वाल्मी० ६३। २७) अर्थात् भाई वही है जो अनीतिकारी बन्धुकी भी सहायता करे।

नोट—२ '*लोचन सुफल करौं*'—भाव कि रामजीके दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा—

सुतीक्ष्णजी—'***होइहहिं आजु सुफल मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन॥***'

भुशुण्डिजी—'***निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥***'

मारीच—'***आजु देखिहउँ परम सनेही। नित परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ***' (३। २६)

इस समय कुम्भकर्णके मनमें दर्शन करनेकी लालसा आते ही प्रभुके रूपका ध्यान और गुणोंका स्मरण हो आया। वह भाईपना निबाहनेके लिये तो चला पर उसने श्रीरामजीमें अपना प्रेम प्रकट कर दिया। मारीचने अपने हृदयका प्रेम रावणपर प्रकट नहीं किया था। यथा—'***चला राम पद प्रेम अभंगा॥ मन अति हरष जनाव न तेही।***' (३। २६) कुम्भकर्णने अपने हृदयका भाव प्रकट कर दिया। इसीसे उस ज्ञानको नष्ट करनेके लिये रावणने तुरंत उसे मदिरा पिलायी।

नोट—३ '*स्यामगात सरसीरुह लोचन*.....' इति। श्याम शरीर और कमल-समान नेत्र दोनों ही त्रयतापके नाशक हैं, यथा—'***भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामलगात प्रनत भयमोचन॥***' (सुं० ४५। ४) और मं० श्लो० १ '**वन्दे कन्दावदातम्**' देखिये।

दो०—रामरूप गुन सुमिरत मगन भएउ छन एक।
रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक॥ ६२॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके रूप और गुणोंको स्मरण करते हुए वह एक क्षणके लिये प्रेममें मग्न हो गया। रावणने करोड़ों घड़े मदिरा और अगणित भैंसे मँगाये॥ ६२॥

नोट—१ रावणने सोचा कि इसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, कहीं ऐसा न हो कि यह युद्ध करने न जाय अथवा कहीं शत्रुसे न जा मिले, अतः उसका ज्ञान नष्ट करनेके लिये यह उपाय रचा।* मांस-मदिरा ज्ञानका नाशक होगा, यह समझकर इन्हें रावणने मँगाया।

नोट—२ '*अनेक*'। वाल्मीकिमें इसका बड़ा भारी वर्णन है, वह सब '*अनेक*' से जना दिया है।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यह भाव संदर्भ-विरोधी है। मांस-मदिरा आकण्ठ सेवन करनेपर भी उसका ज्ञान नष्ट नहीं हुआ, यह कुम्भकर्ण-विभीषण-संवादमें स्पष्ट प्रतीत होता है। जो उसने विभीषणसे कहा है वे बातें उन्मत्त-दशामें कहना असम्भव है।' पर मेरी समझमें तो रावणने इसी भावसे मदिरा मँगायी, उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा या न पड़ा यह दूसरी बात है। जिन लोगोंका शराबियोंका सङ्ग हुआ है वे जानते हैं कि अच्छे शराबीको उसका नशा कुछ देरमें आता है। वैसे ही कुम्भकर्णको नशा तब होने लगा जब वह विभीषणसे बात कर चुका, इसीसे तो उसने अन्तमें कहा कि '***जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर।***' (६३)

---

* १-पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि फिर रावणका कार्य करनेके लिये उसने स्वयं रावणसे मदिरा और महिष माँगे। २—वीरकवि—कुम्भकर्णके शुद्ध विचारको पलटनेके लिये रावणका युक्तिसे ठगनेका काम करना, जिसमें वह मदोन्मत्त होकर अपने पक्षमें आ जाय 'युक्ति अलङ्कार' है।

वि० त्रि०—*'स्यामगात सरसीरुह लोचन'* से रूपका स्मरण कहा, *'ताप त्रय मोचन'* से गुणका स्मरण कहा। यद्यपि *'अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई'* कहकर कुम्भकर्णने युद्ध करना स्वीकार कर लिया, और नारदजीके वचनका स्मरण करके अपनी मृत्यु भी निश्चित मान ली, और रावणसे अन्तिम भेंटके लिये भी कह रहा है फिर भी उसे अन्तरप्रेम है, अतः क्षणभरके लिये मग्न हो गया। रावण जानते हैं कि इनका ज्ञान-ध्यान तभीतक है, जबतक महिष और मदिरा इनके सामने नहीं आती। बोतलसे कुम्भकर्णका क्या होनेवाला था, अतः कोटिघट मदिराके लिये आज्ञा हुई। मद्यपानके बीच-बीचमें चिखना (गजक) की आवश्यकता होती है, अतः अनेक महिष मँगाये गये।

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥ १॥
कुंभकरन दुर्मद रनरंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा॥ २॥

शब्दार्थ—**दुर्मद**=उन्मत्त, नशेमें चूर, गर्वसे भरा हुआ। **रनरंगा**=लड़ाईका उत्साह रखनेवाला, रणमें प्रीतियुक्त, रणधीर।

अर्थ—भैंसे खाकर और मदिरा पीकर वह वज्रपात (गाज गिरनेके शब्द) के समान गर्जा॥ १॥ मदोन्मत्त लड़ाईके उत्साहसे रणोत्सुक कुम्भकर्ण किला छोड़कर चला, सेना भी साथ न ली॥ २॥

नोट—१ *'रनरंगा'* और *'सेन न संगा'* पदोंसे वीर-रौद्र-रसपूर्ण और अपने बलसे बलवान् जनाया। इतना निर्भय योद्धा है कि सङ्ग लेनेवालोंको कायर समझता है।* विभीषणने श्रीरामजीसे कहा है कि और लोग वरसे बलवान् हैं, यह सहज ही बलवान् है। यथा—'**प्रकृत्या ह्येष तेजस्वी कुम्भकर्णो महाबलः। अन्येषां राक्षसेन्द्राणां वरदानकृतं बलम्॥**' (१२) इसने यमराज और इन्द्रको कई बार हराया, ऐरावतका दाँत उखाड़ लिया, जब यह शूल लेकर खड़ा होता है तब काल ही जान पड़ता है, इत्यादि। वाल्मी० ६१ (९—१२) के सब भाव इन दोनों शब्दोंमें कविने कह दिये।

हनुमन्नाटकमें लिखा है कि कुम्भकर्णके उपदेश देनेपर जब रावण कुपित होकर बोला कि तुम्हारी भुजाओंके विस्तारसे क्या लाभ है। मेरी आज्ञा जब तुम्हारे प्रति शिथिल हो गयी तब तुम अपने शयनागारमें जाकर सो रहो; तब कुम्भकर्णने आश्वासन देते हुए कहा है—तुम शत्रुके शोकरूप शल्य (घाव) को त्याग दो। जिस समय क्रोध करके कुम्भकर्ण रणमें चलेगा उस समय काल क्या है, विधाता क्या है, शत्रुकुलका भय क्या है, यम क्या है और यमके गण भी क्या हैं तथा राम और कपीन्द्र क्या हैं?—'**कः कालः को विधाता किमरिकुलभयं को यमः के च याम्याः। को रामः के कपीन्द्राश्चलति मयि रणे रोषिते कुम्भकर्णे॥**' (हनु० ११। २२) यह सब भी *'दुर्मद रनरंगा'* में आ गया।

नोट—२ *'चला'* से जनाया कि पैदल चल दिया। यथा—'**स लङ्घयित्वा प्राकारं पद्भ्यां पर्वतसन्निभः।**' (वाल्मी० ६५—५३)

मा० म०—कुम्भकर्णका सारा ज्ञान महिष और मदिराने समूल नाश कर दिया। जो मादक वस्तुओंका सेवन करते हुए श्रीरामचन्द्रजीमें प्रीति चाहे उसकी बड़ी भूल है।

देखि बिभीषन आगे आएउ। परेउ चरन निज नाम सुनाएउ॥ ३॥
अनुज उठाइ हृदय तेहिं लायो। रघुपति भगति† जानि मन भायो॥ ४॥

* 'विक्लवानां ह्यबुद्धीनां राज्ञां पण्डितमानिनाम्। रोचते तद्वचो नित्यं कथ्यमानं महोदर॥ युद्धे कापुरुषैर्नित्यं भवद्भिः प्रियवादिभिः। राजानमनुगच्छद्भिः सर्वकृत्यं विनाशितम्॥' (वाल्मी० ६५। ५-६) अर्थात् हे महोदर! कायर और पण्डितमानी राजाओंको तुम्हारे वचन अच्छे लगेंगे, तुम्हारे समान कायर और प्रियवादी पुरुष जिस राजाके पास रहते हैं उनके सब कार्य नष्ट कर देते हैं। इत्यादि कह वह अकेला चल दिया और सेना सङ्ग न ली, यथा—'कुम्भकर्णो महातेजा रावणं वाक्यमब्रवीत्। गमिष्याम्यहमेकाकी तिष्ठत्विह बलं महत्॥' अद्य तान्……' (२१-२२)

† भगत—(का०), भक्त—(भा० दा०)।

अर्थ—उसे देखकर विभीषणजी (मिलनेको) आगे आये और चरणोंपर पड़कर (दण्डवत् प्रणाम करके) अपना नाम बताया॥ ३॥ छोटे भाईको उठाकर उसने हृदयसे लगा लिया, श्रीरघुनाथजीका भक्त जानकर वह मनको प्रिय लगा*॥ ४॥

नोट—१ लङ्कासे श्रीरामजीकी शरणमें आते समय विभीषणजी अपनी माता और बड़े भाई कुबेरसे मिलकर तब यहाँ आये थे। कुम्भकर्ण भी बड़े भाई हैं और रामविमुख नहीं हैं; अतएव उससे मिलकर आशीर्वाद लेने आये। इसी तरह, पाण्डवोंने द्रोणाचार्य, भीष्मपितामहको युद्धके प्रारम्भमें प्रणाम किया है। यद्यपि वे स्वामिभक्तिके कारण शत्रुपक्षमें थे। जब विभीषणजी लङ्कासे चले थे तब वह सो रहा था; इससे भेंट न हुई थी। दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि विभीषणने सोचा कि सम्भवत: रावणने इससे मेरी निन्दा अवश्य की होगी कि विपत्ति आनेपर मुझे छोड़कर राज्यलोभसे वह शत्रुसे जा मिला और जाकर अपना तिलक भी करा लिया। यथा—*'मिलो विभीषणौ न मोहि तोहि नेकहू डर्यो'* (रा० च० १८। ५) इत्यादि। अत: अपनेको निरपराध सिद्ध करने और वास्तविक वृत्तान्त बताकर उसका सन्देह मिटानेके लिये सुअसवर जान मिलने गये। श्रीमान् गौड़जी एक कारण और भी लिखते हैं। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—'अब कुम्भकर्णका मरणसमय है। लङ्कामें तो वह सभी भाई-बन्धु कुटुम्बियोंसे मिलकर चला है। एक बेचारा छोटा भाई विभीषण ही रह जाता है। इसलिये ग्रन्थकार गोसाईंजीने किसी-न-किसी मिससे सब भ्राताओंका मिलन वर्णन कर दिया है, क्योंकि अब आगे मिलन होना असम्भव है।—(विभीषण-कुम्भकर्णका मिलन आ० रा०, अ० रा० इत्यादिमें भी है, केवल गोसाईंजीकी उक्ति नहीं है।) 'यदि विभीषणका मिलन कुम्भकर्णसे न होता तो रावणके कथनानुसार विभीषणपर पूरा-पूरा सन्देह रहता, जो मरनेके समय साथ ही मनमें चला जाता। अत: कुम्भकर्णका मोक्ष न होता। इससे दोनोंका मिलन कराके सन्देह मिटाकर कुम्भकर्णको मोक्षका अधिकारी बनाया।

यद्यपि रामभक्त होने तथा भाईद्वारा घोर अपमानित होनेके कारण विभीषण रामकी शरणमें आया सही, पर आखिर था तो संसारी ही पुरुष? वैर-विरोध होनेपर भी रावणकी मृत्युपर उसे महान् दु:ख हुआ। बस, जब उसने सुना कि कुम्भकर्ण रघुनाथजीसे लड़ने आ रहा है तो यह समझकर कि यह अब यहाँसे जीवित तो जा नहीं सकता, भ्रातृस्नेहकी रस्सीमें बँधकर भाईसे जाकर मिलना विभीषण-जैसे कोमल हृदयवालेके लिये स्वाभाविक ही था। इसीलिये वह कुम्भकर्णसे जाकर मिला और सारा वृत्त कहकर अपनेको निर्दोष सिद्ध कर भाईके स्नेहरूपी प्रसादको पा श्रीरघुनाथजीके पास लौटा।

नोट—२ *'परेउ चरन निज नाम सुनाएउ'* इति। (क) *'परेउ'* से साष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया। बड़ोंको प्रणाम करते समय नाम बताना यह प्राचीन परिपाटी है, यथा—*'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा'*—[बा० २६९ (२) देखिये]। (ख)—*'नाम सुनाएउ'* से जनाया कि इस समय वह मदमाता नशेमें चूर है, उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता कि आगे-पीछे कौन है, यथा—*'जाहु न निज पर सूझ मोहि.........'*, इसीसे नाम कहकर सुनाया। विभीषणको वह जानता ही है, अत: पिताका नाम बतानेकी आवश्यकता नहीं थी।—*'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥'* (अ० २४२) परिचितको नाम बतानेकी जरूरत नहीं, यथा—*'मिलन चलेउ हिय हरष अपारा। करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे॥'* (गुह अ० ८८), *'जनक बहोरि आइ सिरु नावा।'* (१। २६९) (ग)—*'परेउ चरन'* से विभीषणका प्रेम भाईमें और *'अनुज उठाइ.........'* से उसका प्रेम विभीषणपर, इस तरह परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया।

---

* मिलान कीजिये 'कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा गदापाणिर्विभीषण:। ननाम चरणं तस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य बुद्धिमान्॥ विभीषणोऽहं भ्रातुर्मे दयां कुरु महामते।''..... 'तच्छ्रुत्वा कुम्भकर्णोऽपि ज्ञात्वा भ्रातरमागतम्। समालिङ्ग्य च वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात्॥ कुलसंरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च।' (अ० रा० ६। ८। ९-१०, १३-१४) अर्थात् वहाँ कुम्भकर्णको देखकर विभीषणने प्रणाम किया और कहा कि मैं विभीषण हूँ, हे महामते! हे भ्राता! मुझपर दया कीजिये। यह सुनकर कुम्भकर्णने भी भाईको आया हुआ जानकर हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया कि वत्स! रामचरणके आश्रित तुम कुलकी रक्षा और राक्षसोंके कल्याणके लिये चिरञ्जीवी हो।

(घ)—*'रघुपति भगत जानि मन भायउ',* यथा—*'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचर-कुलभूषन॥ बंधुबंस तैं कीन्ह उजागर। भजेउ राम सोभा सुखसागर॥'*

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा॥५॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आएउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ॥६॥

शब्दार्थ—**बिचारा**=विचार किया हुआ, विचारपूर्वक, (मन्त्रका) विचार।

अर्थ—हे तात! अत्यन्त हितकारी विचारपूर्वक सलाह कहनेपर रावणने मुझे लात मारी॥ ५॥ उसी ग्लानिसे मैं श्रीरघुनाथजीके पास आया। दीन देखकर प्रभुका मन मुझपर प्रसन्न हुआ॥ ६॥

नोट—१ *'परमहित मंत्र बिचारा'* इति। श्रीसीताजीको दे दो, श्रीसीताजी जगज्जननी और श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं। उनका भजन करो। ये 'परमहित' वचन हैं। यथा—*'सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन परम हित सुनत कठोरे।'''''''सीता देइ करहु पुनि प्रीती।'* (९। ६, १०) विभीषणने रावणसे कहा भी है कि *'राम भजे हित नाथ तुम्हारा', 'सीता देहु राम कहँ'।* इत्यादि। अतः ये वचन 'परम हित' हैं, क्योंकि लोक-परलोक दोनोंके बनानेवाले हैं। आ० रा० १। ११। १५०, अ० रा० ८। १०—१२ में भी ऐसा ही है।

नोट—२ *'तेहि गलानि रघुपति पहिं आएउँ'* इति। सुं० ४२ (४) देखिये। वाल्मी० १६ में विभीषणने रावणसे यही बात कही है, कि तुम बड़े हो, मान्य हो, पिताके समान हो, पर तुम धर्ममें स्थित नहीं हो, इससे हम यह तुम्हारा कठोर वचन नहीं सह सकते। काल-विवश मनुष्य सुन्दर नीति और हित वचन नहीं सुनते। यही भाव 'ग्लानि' का है। लात मारना, धिक्कारना, यह अपमान न सह सके। यथा—**'ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते॥'** (१९) गीतावलीमें भी स्पष्ट *'गलानि'* शब्द आया है। रावणके पाससे जब विभीषणजी माताके पास गये और लात मारनेकी बात कहकर कहा कि इसीसे मैंने रावणको छोड़ दिया, अब श्रीरामजीके पास जाता हूँ तब उसने बहुत समझाया है, यथा—*'समाधान करति बिभीषन को बार बार कहा भयो तात लात मारे बड़ो भाई है। साहिब पितु समान जातुधान को तिलक ताके अपमान तेरी बड़ी ए बड़ाई है॥ गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति, रोष किये दोष सहे समझे भलाई है॥'* (गी० ५। २६) माताके इतना समझानेपर भी वह ग्लानि न गयी। इससे स्पष्ट है कि रावणके लात चलानेसे उनके चित्तको बहुत धक्का लगा, अभीतक उसको नहीं भूले।

नोट—३ (क) *'देखि दीन प्रभुके मन भायउँ';* यथा—*'दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥'* (सुं० ४६) *'नाथ दसानन कर मैं भ्राता'* से *'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।'* (सुं० ४५) तक सब दीनता है। (ख) गृह, परिवार, कोश आदिसे रहित होकर आये, अतः *'दीन'* कहा।

नोट—४ *'भाएउ'* पद कुम्भकर्ण और श्रीरामजी दोनोंके सम्बन्धमें लिखे हैं। यहाँ *'देखि दीन प्रभु के मन भाएउ'* कहा और इसके पूर्व कहा है कि *'रघुपति भगत जानि मन भाएउ।'* इससे दरसाया कि प्रभुको जो 'भाता' है, जिसे वे अङ्गीकार कर लेते हैं वह दूसरोंको भी 'भाने' लगता है। यथा—*'राम सुहाते तोहि जौं तू सबहि सुहातो।'* (वि० १५१) पुनः, यहाँ यह भी बताया कि प्रभुको 'भाने' के लिये क्या उपाय है, वे किस बातसे रीझते हैं; वह बात 'दीनता' है। यथा—*'एहि देवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।'* (वि० १६५) पुनः, *'भाएउ'* पद दोनों जगह देकर जनाया कि भक्त जैसा भगवान्‌को अच्छा लगता है, वैसा ही अन्य भक्तोंको भी अच्छा लगता है।

सुनु सुत भएउ कालबस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन॥७॥
धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भएउ तात निसिचरकुलभूषन॥८॥
बंधु बंस तैं* कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभासुखसागर॥९॥

* तुम्ह—(का०)।

शब्दार्थ—**परम**=उत्कृष्ट, उत्तम जो सबसे बढ़कर हो।

अर्थ—पुत्र! सुन। रावण तो कालवश हो गया है, इससे अब वह उत्तम शिक्षा कब (वा, क्या) मान सकता है॥ ७॥ विभीषण! तू धन्य है! धन्य है!! धन्य है!!! हे तात! तुम निशिचरकुलमें भूषण हुए हो*॥ ८॥ तुमने भाईके (वा, हे भाई! तुमने) वंशको उजागर (प्रकाशित) कर दिया (जो तुमने) शोभा और सुखके सागर श्रीरामजीका भजन किया॥ ९॥

नोट—१ (क) *'सुनु सुत·······।'* छोटा भाई पुत्र-समान होता है और बड़ा पिताके समान, यथा—*'तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा।'* (५। ४१) *'सुत'* शब्दसे अपना वात्सल्य विभीषणपर दिखाया। अ० रा० में भी 'वत्स' सम्बोधन दिया है जो वात्सल्य-भावका पोषक है—*'वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात्।'* (८। १३) (ख) *'भयउ काल बस रावन ·····।'* इति। प्रहस्त, मन्दोदरी और विभीषण आदिने भी यही कहा है—(१) मन्दोदरी—*'काल बिबस पति कहा न माना'* (२) प्रहस्त—*'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥'* (३) विभीषण—*'सभा कालबस तोरि।'* (५। ४१) (४) मारीच—'**निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर। परेतकल्पा हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम्॥**' (वाल्मी० ३। ४१। २०) अर्थात् तुम्हारा हितैषी मैं तुम्हें रोक रहा हूँ, पर तुम मेरी बात नहीं सुनते, जैसे जिसकी आयु पूरी हो गयी है ऐसा मृत्युवश मनुष्य मित्रोंका उपदेश नहीं सुनता। नोट—२ *'धन्य धन्य तैं धन्य'* इति। (क) यहाँ श्लाघाकी वीप्सा है। तीन बार धन्य कहकर 'परम धन्य' जनाया। यथा—*'भूरि भाग भाजन भएहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ॥'* (२। ७४) (ख) रा० प०—भाव कि तीनों काल और तीनों लोकोंमें धन्य हो। (ग) रा० प्र०—यह तीसरा भाई है अतः तीन बार धन्य कहा। (घ) मा० म०—तुम्हारे माता, पिता और तुम तीनों धन्य हो। वा, मन-कर्म-वचनसे तुम धन्यवाद योग्य हो। नोट—३ वीर राक्षसके मुखसे रामभजनका उपदेश और राक्षसकुलमें रामभक्त उत्पन्न होना दोनों बातें कारणसे विपरीत होनेसे यहाँ 'चतुर्थ विभावना' अलङ्कार है।

(ख) ☞ पूर्व जो कह आये हैं कि अपनेको निर्दोष सिद्ध करने और वास्तविक वृत्तान्त सुनानेके लिये कुम्भकर्णसे विभीषण मिले, यह बात यहाँ प्रमाणित होती है; क्योंकि सब हाल सुननेपर ही कुम्भकर्णने इनकी प्रशंसा की। यदि उसके हृदयमें संदेह रहा होगा तो वह सब वृत्तान्त सुननेपर दूर हो गया। इस तरह वह ग्लानि जो विभीषणजीके हृदयमें थी अब दूर हो गयी। वाल्मीकीयके रावणने विभीषणजीको 'कुलपांसन' कहा था, कुम्भकर्णने 'कुलभूषण' कहकर रावणके वचनको रद्द कर दिया। दूसरे नारदके उपदेशसे भी सम्भवतः

☞ * 'निसिचर कुल भूषन' पाठ का०, भा० दा०, रा० गु० द्वि० इत्यादि सबकी पोथियोंमें मिलता है; पर मा० म० में 'दिनकर कुलभूषन' पाठ है और इसीको वे शुद्ध पाठ कहते हैं। वे कहते हैं कि कुम्भकर्ण इनको धन्य कहता है और 'दिनकरकुलभूषन' पदसे धन्य होनेका कारण बताता है कि 'तुम सूर्यकुलभूषण रामचन्द्रके तात अर्थात् सखा हुए, जैसा उत्तरकाण्डमें कहा है—ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे·······' वे लिखते हैं कि निशिचरकुलभूषण उसे कहेंगे जो निशिचर कर्म, परस्त्री, मद, मांसादिक सेवन करे; यथा कवियोंमें श्रेष्ठ होनेसे पण्डित कुल-भूषण कहते हैं तथा निशाचरकर्ममें उत्कृष्ट होनेसे निशिचरकुल-भूषण कहते हैं। पर विभीषणमें ये दोष नहीं हैं। निशिचरकुलभूषण अर्थ करना हास्यप्रद है।' पर 'निशिचरकुलभूषण' और आगे 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर' ये दोनों 'निसिचर' ही पाठके समर्थक हैं, नहीं तो निशिचर-वंशको उजागर करनेवाला भी नहीं कह सकते जबतक रावणका-सा दुष्ट न हो।

प्र० स्वामीका मत है कि 'निसिचर कुल भूषन' को एक सामासिक पद लेना उचित न होगा, कारण कि विभीषणादि स्वयं निशिचर हैं पर उनका कुल तो पुलस्तिकुल है, विप्रकुल ही नहीं, ब्रह्मकुल है। अर्थ यह है कि हे तात! यद्यपि तुम निशिचर हो, तथापि कुलभूषण हुए हो। भाव कि रावणादि हम सब पुलस्त्यकुलदूषण ही हुए पर एक तुम ही 'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती' के अनुकूल कुलभूषण हुए। 'दिनकर कुल भूषण' पाठ इतना समुचित नहीं है। कारण कि इसमें विशेषणकी यह विशेषता नहीं रह जाती कि वह निशाचर होते हुए भी 'पुलस्तिकुलभूषण' भी हुआ। 'दिनकर' पाठ लें तो 'दिनकर' को 'कुलभूषण' से पृथक् लेना चाहिये। अर्थ यह होगा कि 'तुम कुलभूषण दिनकर' हुए, जिसका अर्थ ही है कि 'तैं बंस उजागर कीन्ह'।

उसे मालूम था कि ये परम भागवत हैं, इस कारणसे ही उनकी प्रशंसा की हो यह भी सम्भव है।

नोट—४ *'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर'* इति। *'उजागर'* का भाव कि—(क) तुम न होते तो इस कुलका कोई नाम न लेता। तुम इस कुलमें परम भागवत पैदा हुए, इससे इस कुलकी रक्षा और कल्याण होगा, त्रिलोकीमें यह धन्य माना जायगा, यथा—'**कुलसंरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च। महाभागवतोऽसि त्वं पुरा मे नारदाच्छ्रुतम्॥**' (अ० रा० ८। १४) (अर्थात् नारदसे मैंने पूर्व सुना है कि राक्षसकुलके कल्याण और रक्षाके लिये तुम महाभागवत उत्पन्न हुए हो), *'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत॥'* (७। १२७)

नोट—५ *'भजेहु राम सोभा सुखसागर'* इति। (क) यथा—*'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी।'* (१। १४८। ५), *'सोभासींव सुभग दोउ बीरा।'* (१। २३३। १), *'सोभाधाम राम अस नामा।'* (३। २२। ८), *'तदपि अधिक सुखसागर रामा।'* (१। १९८), (ख) *'सोभासागर'* से रूप कहा, *'सुखसागर'* से गुण कहा। (बं० पा०) (ग) मा० म०—भाव कि विभीषणने जो कहा था कि *'प्रभुके मन भाएउँ'*, उसपर कुम्भकर्ण कहता है कि राजा तो तुम्हें बना दिया फिर भी तुम भजन करते रहना, नहीं तो भजन न करनेसे सुखका साज भाग जायगा।

दो०—बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भएउँ कालबस बीर॥ ६३॥

शब्दार्थ—बीर=भाई। यथा—*'बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर'।*

अर्थ—मन, कर्म और वचनसे कपट छोड़कर रणधीर रामचन्द्रजीका भजन करना। हे भाई! मैं कालके वश हो गया हूँ। मुझे अपना-पराया नहीं सूझता, इसलिये अब तुम जाओ॥ ६३॥

नोट—१ (क) भजन कपट छोड़कर करना चाहिये। प्रभुको कपट नहीं भाता। यथा—*'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'* (सुं० ४४) पुनः, (ख) भाव कि सुख तभी स्थिर रहेगा जब मन-वचन-कर्मसे भजन होगा, अन्यथा नहीं, यथा—*'करम बचन मन छाड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार॥'* (अ० १०७) पुनः, (ग)—कृपाके लिये भी इसका होना आवश्यक है, यथा—*'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।'* पुनः, (घ) इससे प्रभुका बराबर हृदयमें निवास रहेगा, यथा—*'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ करउँ सदा बिश्राम॥'* (आ० १६) (ङ) **कपट**=छल। स्वार्थ ही छल है, यथा—*'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'* (२। ३०१। ३) वा, [निशाचर स्वभावसे ही छली होते हैं, इसीसे छल छोड़नेको कहा (शीला)। मन, कर्म, वचनसे भजनका भाव कि रणमें अनेक दशाएँ होती हैं, तुम किसी दशामें भी अपना चित्त डोलने न देना। (पं०)]

नोट—२ 'मन, वचन, कर्म' से भजनेको कहकर उसका उपाय भी बताते हैं कि *'राम रनधीर'* (रणसे चलायमान न होनेवाले) अर्थात् धनुर्धर रामका भजन करना। पुनः 'रणधीर' का भाव कि वे अवश्य निशिचर रावणको मारेंगे, तुम उनके आश्रित रहकर रावणसे डरना नहीं, यह शङ्का कदापि न करना कि रावण जीता तो मैं कहा जाऊँगा। (शीला)

वि० त्रि०—*'बचन कर्म मन............बीर'* इति। विभीषणजीने कहा कि *'तात लात मोहि रावन मारा। कहत परमहित मंत्र बिचारा॥ तेहि गलानि रघुपति पहँ आएउँ।'* अर्थात् मैं अपनी खुशीसे रामजीके पास नहीं आया। मेरे साथ बड़ा भारी अन्याय हुआ। यही विचार सभामें मुझे परमहित कहते हुएको रावणने लात मारा। इतना बड़ा अपमान असह्य था, इसलिये रामजीके पास आया। कुम्भकर्णने देखा कि ग्लानिके कारण जब यह रामजीके पास आया है तो ग्लानिके कारणके हट जानेपर यह पलट भी सकता है। अतः शिक्षा देता है कि कपट छोड़कर मनसा-वाचा-कर्मणा भजन करना, डरना मत; रणधीर रामकी जय निश्चित

है; मैं स्वयं कालके वश हो रहा हूँ, मुझे अपना-पराया नहीं सूझ रहा है, तुम चले जाओ, कहीं ऐसा न हो कि तुम मेरे ही हाथसे मारे जाओ।

नोट—३ *'जाहु न निज पर सूझ मोहि......... ।'* (क) मदिरा आदि मादक वस्तुओंके पानका यह फल हुआ। (ख) कालवश मनुष्यको भी अपना-पराया कुछ विचार नहीं रह जाता, यथा—*'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥', 'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा॥'* (३६। ७) (ग) *'जाहु न निज पर सूझ मोहिं',* ये वचन आ० रा० एवं अ० रा० में भी हैं, और इसका कारण अ० रा० ८। ५१ में मद्यपान और आ० रा० में युद्ध बताया है। यथा—'**गच्छ तात ममेदानीं दृश्यते न च किंचन। मदीयो वा परो वापि मदमत्तविलोचनः॥**' (अ० रा० ८। १५) अर्थात् तुम जाओ, अब मेरे नेत्र मदसे मतवाले हो गये हैं, मुझे अपना-पराया कुछ भी नहीं देख पड़ता। पुनः, यथा—'**सम्यक्कृतं त्वया वत्स मदग्रे मा स्थिरो भव। युद्धे स्वीयः परो वात्र ज्ञायते न मयाद्य हि॥**' (आ० रा० १। ११। १५२) अर्थात् हे वत्स! तुमने अच्छा किया पर अब खड़े न रहो। क्योंकि मुझे युद्धमें अपना-पराया या और कुछ नहीं सुझायी पड़ता है।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'अपना-पराया न सूझना मदिरापानका फल नहीं है। '**मदमत्तविलोचनः**' में 'मद' का अर्थ मदिरा करनेकी आवश्यकता नहीं है। रणमदमत्त अर्थ लेना ठीक है, क्योंकि मदिरासे उन्मत्त मनुष्य न तो सुसंगत बोल ही सकता है, न सुसंगत क्रिया ही कर सकता है।'

यहाँ कुम्भकर्णका स्वाभाविक कथन कि मैं कालवश हुआ हूँ 'स्वभावोक्ति' है।

बंधु बचन सुनि चला * बिभीषन । आएउ जहँ त्रैलोक बिभूषन॥ १॥
नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥ २॥

अर्थ—भाईके वचन सुनकर विभीषण चल दिये और जहाँ त्रैलोक्यके विभूषण (आभूषण, गहना, मणि) श्रीरामचन्द्रजी थे वहाँ आये। (और बोले—)॥ १॥ हे नाथ! हे रणधीर! पर्वताकार देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है॥ २॥

नोट—१ (क) *'बंधु'* पद दिया क्योंकि उसने भाईका-सा व्यवहार किया और हितकी बात कही, यद्यपि शत्रुपक्षका है। (ख) *'त्रैलोक बिभूषन'* का भाव कि त्रैलोक्य-दूषण रावणका नाश करके त्रिलोकको सुख देंगे (पं०, पाँ०)। विभीषण केवल कुलभूषण हैं और श्रीरामजी त्रैलोक्यविभूषण हैं। वे जानते हैं कि मेरी कुलभूषणता त्रैलोक्यविभूषणकी कृपापर ही निर्भर है। (प० प० प्र०)

नोट—२ *'नाथ भूधराकार सरीरा।.........'* (क) वाल्मी० ६१ में श्रीरामजीके पूछनेपर कि यह पर्वताकार अद्भुत प्राणी कौन है? विभीषणने बताया कि यह रणधीर कुम्भकर्ण है। अतएव यहाँ भी रामजीका प्रश्न समझ लें। यथा—'**तं दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठ पर्वताकारदर्शनम्।।**' (२) '**स पृष्टो राजपुत्रेण रामेणाक्लिष्टकर्मणा। विभीषणो महाप्राज्ञः काकुत्स्थमिदमब्रवीत्॥**' (८) अथवा, मानसके विभीषणके स्वयं बिना पूछे ही कह देनेसे उनकी श्रीरामजीमें विशेष भक्ति सूचित होती है। दूसरे मानसके शब्दोंसे स्पष्ट है कि कुम्भकर्ण अभी सामने आया नहीं है, इन्होंने प्रथम सूचना दी है कि वह आ रहा है। आगेके *'एतना कपिन्ह सुना जब काना'* से भी यही बात सिद्ध होती है। श्रीरामजीका प्रश्न यहाँ न कहकर कविने विभीषणजीको अपने कर्तव्य और सेवामें पूरा सावधान दिखाया। इनको मन्त्र-भाग सौंपा गया है, अतः इन्होंने तुरंत बिना पूछे उसका समाचार कह सुनाया। बं० पा० जी कहते हैं कि कुम्भकर्णने कहा था कि कपट छोड़ भजन करना। वह उपदेश विभीषणने ग्रहण किया। इसीसे तुरन्त आकर कहा। (ख) 'रणधीर' का भाव कि इससे सँभलकर युद्ध किया जाय, यह अन्य योद्धाओंके समान नहीं है। (ग)—कुम्भकर्णने प्रभुको रणधीर कहा है, यह बात विभीषणजीके हृदयमें जम गयी है इसीसे इन्होंने यहाँ 'रणधीर' सम्बोधन किया। और कुम्भकर्ण भी रणधीर है। 'रणधीर' पदसे वाल्मी० ६१ के १६ श्लोकोंमें जो वीरता विभीषणने कही है उस सबका ग्रहण हो गया।

* फिरा—(का०)

प० प० प्र०—सुग्रीवने *'बालि महाबल अति रन धीरा'* कहकर उसके वधमें संदेह किया था। सप्ततालवेधनके पश्चात् उन्हें *'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥'* विभीषणजीने रावणको रथी देखकर संदेह किया कि *'केहि बिधि जितब बीर बलवाना'*। वैसे ही यहाँ भी *'अधिक प्रीति भा मन संदेहा'* कि *'केहि बिधि जितब बंधु रनधीरा'* नहीं तो कुम्भकर्णके मुखसे ही *'राम रनधीर'* सुननेपर भी कुम्भकर्णको *'भूधराकार सरीरा, रनधीरा'* कहनेकी आवश्यकता न थी।

एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाए बलवाना॥ ३॥
लिए उठाइ* बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर॥ ४॥

अर्थ—जैसे ही वानरोंने कानोंसे इतना सुना वे बलवान् प्रसन्नतामें किलकिलाकर दौड़े॥ ३॥ वृक्ष और पर्वत उठा लिये और क्रोधसे दाँत कटकटाकर उसके ऊपर डालने लगे॥ ४॥

नोट—१ (क) *'किलकिला'* शब्द हर्ष और उत्साहसूचक है। यथा—*'नाँघि सिंधु एहि पारहिं आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना।'* (सुं० २८) पुनः 'किलकिलाने' का भाव कि रावणपर सब क्रोधित थे, चाहते थे कि मिल जाय तो मार ही डालें, यथा—(शुकवाक्य) *'परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥'* वह नहीं आया। उसका भाई आया। उसे देख उसे मर्दन करनेके लिये हर्षित हुए। हर्ष इससे कि पूर्व संग्राममें जय पाये हुए हैं, इससे उत्साह बढ़ा हुआ है। वा, यह रावणका भाई है और महाबली है, बलीको देखकर बलीका उत्साह अधिक हो जाता ही है। वा, इसकी जीतसे बड़ाई होगी इससे हर्ष हुआ। (पं०) (ख) *'कटकटाना'* क्रोधसूचक है, यथा—*'कटकटान कपिकुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी॥'* (३१। ३)

नोट—२ *'बिटप अरु भूधर'* अर्थात् जिसने जो पाया। कोई पर्वत लिये है, कोई वृक्ष। पुनः *'लिये उठाइ'* का भाव यह कि पूर्व संग्राममें बहुत-से उखाड़े गये थे, वे पड़े हुए हैं, उन्हींको उठा लिया।

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक† बारा॥ ५॥
मुर्‌यौ न मनु तनु टर्‌यौ न टार्‌यौ। जिमि गज अर्क फलनि को‡ मार्‌यौ॥ ६॥

अर्थ—रीछ और बंदर एक-एक समयमें कोटि-कोटि (अगणित) पर्वत-शिखरोंको चलाकर मारते हैं॥ ५॥ पर उसका न तो मन ही मुड़ा (फिरा) और न तन ही टाले टला। जैसे मदारके फलोंसे मारे जानेपर हाथी (टस-से-मस न करे, हटाये न हटे)॥ ६॥

नोट—१ *'कुंभकरन आवत रनधीरा'* कहकर अब यहाँ रणमें धीरताका स्वरूप दिखाते हैं कि वह कम्पित न हुआ। यथा—'**प्रांशुभिर्गिरिशृंगैश्च शिलाभिश्च महाबलाः। पादपैः पुष्पिताग्रैश्च हन्यमानो न कम्पते॥ तस्य गात्रेषु पतिता भिद्यन्ते बहवः शिलाः। पादपाः पुष्पिताग्राश्च भग्नाः पेतुर्महीतले॥**' (वाल्मी० ६६। १०-११) अर्थात् किसीने ऊँचे पर्वतशिखरोंसे, किसीने शिलाओंसे, किसीने फूले हुए वृक्षोंसे मारा; पर वह कम्पित न हुआ। वरन् उसके गात्रोंसे लगकर बहुत-सी शिलाएँ फूट गयीं और वृक्ष टूटकर गिर पड़े।

नोट—२ (क) *'मुर्‌यौ न मनु'* का भाव कि वह बड़ा ही बाँका वीर है, यथा—*'गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालितनय अति बल बाँकुरा॥'* (१९। ७) (ख) यहाँ मन और तन दिखाया, वचन नहीं। कारण कि सच्चे वीर अपना बल कहते नहीं, करके दिखाते हैं,*'कायर कथहिं प्रतापु'*, *'करहिं कहत न बागहीं।'*

---

* उपारि (का०)। 'उठाइ' पाठसे 'उपारि' पाठ अधिक सुन्दर है। यद्यपि दोनों पाठोंमें ओज है तथापि 'उपारि' में अधिक है। पा और प का अनुप्रास भी सधता है। सुन्दरकाण्ड हनुमान्-मेघनाद-युद्धमें जहाँ कटकटाना और दौड़ना कहा है वहाँ 'उपारा' कहा है। अतः यहाँ भी 'उपारि' ठीक है (प० प० प्र०)।

† एकहि—(का०), एक-एक (भा० दा०)। रा० प० में 'एकहि' पाठ है पर अर्थमें 'एक एक बार करहिं प्रहार' लिखा है।

‡ के मार्‌यौ (का०)।

(८९) (ग) *'जिमि गज अर्क फलनि को मार्यो।'* भाव कि मदारका फल अत्यन्त हलका होता है वह हाथीको क्या मालूम हो, वैसे ही पर्वत-शिखरादिकी मार उसके लिये ऐसी थी मानो उसपर गिरे ही नहीं।

तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। पर्‌यौ धरनि ब्याकुल सिर धुन्यौ*॥७॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता॥८॥

अर्थ—तब हनुमान्‌जीने उसे एक घूँसा मारा, जिससे वह व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और सिर पीटने लगा॥ ७॥† फिर उठकर उसने हनुमान्‌जीको मारा, जिससे वे तुरंत चक्कर खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ८॥

प० प० प्र०—*'मारुतसुत'* शब्दसे जनाया कि इतनी जोरसे मुष्टिप्रहार किया कि उसकी मृत्यु हो जानी चाहिये थी, पर ऐसा हुआ नहीं। इससे हनुमान्‌जीको भी विषाद हुआ कि *'धिग धिग मम पौरुष धिग मोही।'*

नोट—१ (क) *'तब'* अर्थात् जब वानरसेनाकी मारका किञ्चित् भी प्रभाव उसपर न पड़ा। (ख) *'ब्याकुल सिर धुन्यौ।'* भाव कि घूँसेसे व्याकुल होनेपर वह अपने बल-पराक्रमको धिक्कारने लगा। (ग) *'घुर्मित भूतल परेउ'* इति। यहाँ कुम्भकर्ण और हनुमान्‌जीको प्रथम तो परस्पर बराबरका बलवान् दिखाया, जैसे *'पर्‌यौ धरनि ब्याकुल'* वैसे ही *'घुर्मित भूतल परेउ।' 'घुर्मित परेउ'* कहकर जनाया कि ये मूर्च्छित हो गये। यह मूर्च्छा सुग्रीवको दबा ले जानेके पश्चात् छूटेगी। इसीसे यहाँ *'घुर्मित परेउ'* कहकर छोड़ दिया, उठना न कहा। आगे कहा है कि *'मुर्छा गइ मारुतसुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा॥'* इससे कुम्भकर्णका विशेष बलवान् होना सूचित किया है। क्योंकि ये मूर्च्छित हुए और देरतक मूर्च्छित पड़े रहे और वह मूर्च्छित नहीं हुआ, किंतु तुरंत उठकर उसने इनके घूँसा मारा।

पुनि नल नीलहि अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट डारेसि॥९॥
चली बलीमुख सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई॥१०॥

शब्दार्थ—**समुहाना**=सामने वा सन्मुख आना। **पराना**=भागना।

अर्थ—फिर उसने नल-नीलको पृथ्वीपर पछाड़ा और योद्धाओंको जहाँ-तहाँ पटक-पटककर डाल दिया (गिरा दिया)॥ ९॥ वानरसेना भाग चली। वानर अत्यन्त भयभीत हो गये, कोई सामने नहीं आता॥ १०॥

नोट—१ (क) *'पुनि नल……'* इति। यथा—'**मुष्टिना शरभं हत्वा जानुना नीलमाहवे। आजघान गवाक्षं तु तलेनेन्द्ररिपुस्तदा॥……तेषु वानरमुख्येषु पातितेषु महात्मसु।**' (वाल्मी० ६७। २८—३०) अर्थात् कुम्भकर्णने मुष्टिसे शरभको मारा, जाँघसे नीलको और लातसे गवाक्षको मारा। सब मुख्य वानरोंको कुम्भकर्णने पृथ्वीपर गिरा दिया। (ख) *'न कोउ समुहाई'* भाव कि समझानेसे भी सामने नहीं जाते। (वाल्मी० ६६)‡। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—बचे हुए वानर एक-दूसरेको लाँघते और दौड़ते हुए भाग चले, फिरकर कोई भी न देखते थे, कोई समुद्रमें गिरे, कोई आकाशमें स्थित हुए, जिस मार्गसे समुद्र उतरे थे उसी मार्गसे भाग खड़े हुए। भयसे मुँहका रंग उड़ गया। कोई ऊँचे स्थलों और गढ़ोंकी ओर भागे। कोई रीछ वृक्षोंपर

---

* हन्यो, धुन्यो, पर्‌यो—(का०)। हनेऊ, धुनेऊ—गौड़जी।

† इस अर्धालीमें एक-एक मात्रा कम करके जनाया कि हनुमान्‌जीकी शक्ति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। सुर-मुनि-सिद्धादिको हर्ष हुआ, उनकी वाणी कुंठित हो गयी। कुम्भकर्ण भी कुछ बोल न सका अतः 'सिर धुन्यो' (प० प० प्र०)

‡ लङ्घयन्तः प्रधावन्तो वानरा नावलोकयन्। केचित्समुद्रे पतिताः केचिद् गगनमास्थिताः॥
वध्यमानास्तु ते वीरा राक्षसेन च लीलया। सागरं येन ते तीर्णाः पथा तेनैव दुद्रुवुः॥
ते स्थलानि तदा निम्नं विवर्णवदना भयात्। ऋक्षा वृक्षान्समारूढाः केचित्पर्वतमाश्रिताः॥
निपेतुः केचिदपरे केचिन्नैवावतस्थिरे। केचिद् भूमौ निपतिताः केचित्सुप्ता मृता इव॥
तान्समीक्ष्याङ्गदो भग्नान्वानरानिदमब्रवीत्। अवतिष्ठत युध्यामो निवर्तध्वं प्लवङ्गमाः॥' (वा० ६६। १४—१८)
'केचिच्छरण्यं शरणं स्म रामं व्रजन्ति केचिद्व्यथिताः पतन्ति।
केचिद्दिशश्च व्यथिताः पतन्ति केचिद्भयार्ता भुवि शेरते स्म॥' (वाल्मी० ६०। ९७)

चढ़ गये, कोई डरसे पृथ्वीपर गिरे, कोई मृतकवत् सो रहे। यह देख अङ्गदने सबको लौटने और फिर युद्ध करनेको कहा।.........पर वे फिरते नहीं, कहते जाते हैं कि हम प्राण बचानेके लिये भागे जाते हैं, खड़े होनेका समय नहीं है, यथा—'**न स्थानकालो गच्छामो दयितं जीवितं हि नः॥**' (२९) यही सब भाव *'न कोउ समुहाई'* और *'अतिभयत्रसित'* का है। (वाल्मी० ६६ श्लोक १४—१८)

नोट—२ (क) हनुमान्‌जी, नल, नील आदि मूर्च्छित हो गये। इससे सेना भागी। अङ्गदादि सामने हुए, वे भी मूर्च्छित हुए। सेनाको लौटानेवाले कोई नहीं हैं; इसीसे यहाँ लौटानेकी बात न कही। आगे जब केवल यूथपति मूर्च्छित हुए तब लौटना कहा है—*'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहि टेरे॥'* (६६। ६) अथवा, (ख)—यहाँ सेना ही भागी,—*'चली बलीमुख सेन पराई।.........'* आगे यूथपति ही भागने लगे, यूथकी बात ही क्या?

दो०—अंगदादि कपि मुरुक्षित* करि समेत सुग्रीव।
काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बलसीव॥ ६४॥

अर्थ—सुग्रीवसहित अङ्गदादि वानरोंको मूर्च्छित करके अतुल बलकी सीमा (अत्यन्त बलवीर) कुम्भकर्ण वानरराज सुग्रीवको बगलमें दबाकर ले चला†॥ ६४॥

नोट—१ अङ्गदादि—दोहा ५१ देखिये। ☞ वाल्मी० ६७ में सुग्रीवको दाबकर ले चलते समय हनुमान्‌जीका सोच करना लिखा है। उन्होंने सोचा कि यदि मैं सुग्रीवको छुड़ानेका यत्न करूँ और उनको छुड़ा दूँ तो इससे सुग्रीवकी अपकीर्ति होगी जिससे सुग्रीवको बुरा लगेगा, वे मनमें रुष्ट हो जायेंगे। मूर्छा विगत होनेपर वे स्वयं अपनेको छुड़ा लेंगे, अतः चिन्ता क्या करनी। यह विचारकर उन्होंने उनके चैतन्य होनेकी प्रतीक्षा करनेका निश्चय किया। इससे वहाँ शङ्का होती थी कि हनुमान्‌जीके रहते कैसे वह सुग्रीवको ले गया? पर मानस-कथामें हनुमान्‌जी प्रथम ही मूर्छित हो गये, इससे यह शङ्का ही नहीं उठती। नोट—२ सुग्रीवको ही बगलमें दाबकर ले जानेका अभिप्राय यह था कि बालिने मेरे भाईको काँखमें दाबा था, मैं रावणका भाई, बालिके भाईको दाब ले चला। इस तरह बदला चुकनेसे रावण प्रसन्न होगा। दूसरे, राजाकी हारसे सेनाकी हार होती है। वानर सब रामका साथ छोड़ देंगे। तीसरे, सुग्रीवका मरण सुनकर राम जीवित न रहेंगे, उनके मरनेसे लक्ष्मण भी मर जायँगे और सारी सेना भी मर जायगी। रावणका कोई शत्रु ही न रह जायगा।—'**अस्मिन्हते सर्वमिदं हतं स्यात्सराघवं सैन्यमितीन्द्रशत्रुः।**' (वाल्मी० ६७। ७१) वाल्मीकिजीने लिखा है कि सुग्रीव जब एकाएकी सुवेलपरसे छलाँग मारकर, रावणके ऊपर जा पहुँचे थे और वहाँ मल्लयुद्ध होनेपर जब वे लौटे तब रामजीने कहा भी है कि हमने निश्चय कर लिया था कि यदि तुम्हें कुछ हो गया तो हम भी प्राण दे देंगे। हमें सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न एवं अपना शरीर तब किस कामका है। (वाल्मी० ४१। ४—६)

अङ्गद, हनुमान् और सुग्रीव सबको मूर्च्छित कर दिया, इसलिये *'अमित बलसीव'* कहा। अपने पुरुषार्थसे और कोई यह न कर सका था।

प० प० प्र०—कुम्भकर्णके हाथोंसे हनुमानाङ्गद, सुग्रीवादिकी ऐसी दुर्दशा क्यों हुई? इसका कारण केवल यह है कि इस समय कोई भी *'प्रभु प्रताप उर राखि'* और *'रामचरन सिर नाइ'* नहीं चला, अपने ही बल-पौरुषसे उसको जीतने चले थे।

उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥ १॥
भृकुटि भंग जो‡ कालहि खाई। ताहि कि सोहै ऐसि लराई॥ २॥

शब्दार्थ—भंग=टेढ़ी या झुकी होनेका भाव। विलास।

* धाय बस—(का०)

† 'सुग्रीवं बाहुमूले प्लवगबलपतिं कण्ठदेशे भुजेन क्षिप्त्वा निष्पीड्य गाढं रजनिचरपुरीं संदधानो जगाम।' (हनु० ११। २५)

‡ 'कालहि जो'—(का०)।

अर्थ—हे उमा! श्रीरघुनाथजी उसी प्रकार नरलीला कर रहे हैं जैसे गरुड़ सर्पोंके समूहमें मिलकर खेले॥ १॥ जो भौंहको तिरछीमात्र करके कालको खा जाता है, क्या उसे ऐसी लड़ाई शोभा देती है? (नहीं)॥ २॥

पं०—श्रीरामजीके रहते श्रीहनुमान्‌जी आदिका मूर्च्छित होना और सुग्रीवको दबाकर लङ्का ले जाना कैसे बने? इसीका यहाँ समाधान करते हैं।

बं० पा०—*'उमा करत रघुपति नरलीला।'* भाव कि जैसा अरण्यकाण्डमें कहा था कि *'मैं कछु करब ललित नरलीला'* वैसा ही यहाँ करते हैं। यह कहकर फिर कहते हैं कि वह नरलीला किस प्रकार करते हैं, जैसे कि गरुड़ सर्पोंमें मिलकर खेल करे। *'ऐसि लराई'* यह कि अकेले एक निशिचरने आकर सारी सेनाको व्याकुल कर दिया, सुग्रीवको अनाथकी तरह काँखमें दाबकर ले गया।

नोट—१ *'खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला'* इति। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। सर्प गरुड़के भक्ष्य हैं, जब चाहें तभी गरुड़ उनको खा लें, वैसे ही समस्त निशिचर श्रीरामजीके लिये मरे ही हुए हैं, जब चाहें भ्रूभंगमात्रसे उनको मार डालें। जैसे गरुड़ सर्पोंके साथ खेलमें सर्पकी फुफकारसे डरे तो यह न समझा जायगा कि गरुड़ सर्पसे डरते हैं या गरुड़ हार गये। वैसे ही श्रीरामजी निशिचरोंसे मिलकर उनके साथ मनुष्यवत् लीला करनेमें मूर्च्छित होते हैं, उनकी सेना मारी जाती है, वे विलाप करते हैं—ये सब नरनाट्यमें जरूरी ही हैं, नहीं तो फिर खेल कहाँ; पर इससे यह न समझना चाहिये कि सत्य ही निशिचरसे वे हार गये। नृसिंहजी और हिरण्यकशिपुके प्रसंगमें इससे मिलता हुआ भाव है उससे मिलान कीजिये, यथा—**तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत्। स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः॥ असाध्वमन्यन्त हतौकसोऽमरा घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः। तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं युद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः। तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभिश्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः। कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः॥** (भा० ७। ८। २६—२८)

अर्थात् गरुड़ जैसे महासर्पको पकड़ लें वैसे ही भगवान् गदाधरने महावेगसे, गदासे प्रहार करते हुए उस दानवको पकड़ लिया। हे भारत! दानव हिरण्यकशिपु किसी प्रकार, उसके साथ क्रीड़ा कर रहे हरिके हाथसे निकलकर गरुड़के हाथसे छूटे हुए सर्पकी भाँति फिर विक्रम करने लगा। तब अपने-अपने स्थानोंसे भ्रष्ट देवता और लोकपालगण, जो बादलोंकी ओटमें छिपे हुए वह चरित्र देख रहे थे और दैत्यके वधकी प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्होंने भगवान्‌के हाथमें आकर दैत्यके छूट जानेको अच्छा न माना। भगवान्‌के हाथसे छूटे हुए दैत्यने समझा कि हरिने मेरे पराक्रमसे शङ्कित होकर मुझे छोड़ दिया। ऐसा समझकर युद्धक्षेत्रमें क्षणभर विश्राम करके ढाल-तलवार ले उसने फिर आक्रमण किया। उस समय राक्षस बाज पक्षीकी भाँति बड़े वेगसे ऊपर-नीचे उछल-कूदकर ढाल-तलवारके पैंतरे बदलने लगा कि जिससे उसपर प्रहार करनेका अवसर ही न मिले। तब प्रभुने उच्च स्वरसे भयंकर अट्टहास किया, जिससे राक्षसकी आँखें निमीलित हो गयीं, तदनन्तर प्रभुने उसे पकड़ लिया।

नोट—२ *'भृकुटिभंग जो कालहि खाई'* इति। भाव कि ऐश्वर्यपर केवल दृष्टि रखें तो यह अशोभित जान पड़ेगा, पर माधुर्यमें यह अशोभित नहीं है। कभी किसीकी जीत, कभी किसीकी जीत, यही युद्धकी शोभा है। यही बात आगे भी कही है, यथा—*'नट इव कपट चरित कर नाना।'''''''रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो। नागपास देवन्ह भय पायो॥'* (७२। १२-१३) दूसरे, इस खेलमें गूढ़ अभिप्राय है जो आगे कहते हैं—

जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥ ३॥

अर्थ—भगवान् जगत्‌को पवित्र करनेवाली कीर्ति फैलावेंगे, जिसे मनुष्य गा-गाकर भवसागर पार होंगे॥ ३॥

नोट—भाव कि नरनाट्य करनेका अभिप्राय यह है कि इस चरितको गाकर सहज ही बिना योग-जप-यज्ञादिके भक्त संसारबन्धनसे मुक्त हो जायँ। यथा—*'जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु।'*

(१। १२१), *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥'* देखिये। ज्ञानादिकी कठिनता देख भवसागर तरनेका यह सुगम उपाय रच रहे हैं। इससे नीच-ऊँच, छोटे-बड़े इत्यादि सभीका उपकार होगा। रोचक इतिहासकी तरह इसे गा-गाकर ही भवपार हो जायेंगे।

मुरुछा गई मारुतसुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा॥ ४॥
सुग्रीवहुँ* कै मुरुछा बीती। निबुकि† गएउ तेहि मृतक प्रतीती॥ ५॥

शब्दार्थ—निबुकना=छुटकारा पाना, बन्धनसे निकलना, छूटना। यथा—*'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भई सभीत निसाचर नारी॥'*

अर्थ—मूर्च्छा जाती रही तब पवनसुत सावधान हुए और सुग्रीवको ढूँढ़ने लगे॥ ४॥ (उधर) सुग्रीवकी भी मूर्च्छा गयी। वे खिसक करके नीचे गिर गये तो उसने इन्हें मृतक जाना॥ ५॥

पु० रा० कु०—*'सुग्रीवहि तब खोजन लागा'* इति। खोजनेका भाव कि श्रीहनुमान्‌जीने सूर्यसे व्याकरण-विद्या पढ़ी तब गुरुदक्षिणा यह दी कि संकटमें तुम्हारे पुत्र सुग्रीवकी हम रक्षा करेंगे। प्रमाण—

'पुरैव किलायमाञ्जनेयो भगवतः सहस्रकिरणाद्व्याकरणविद्यामधीयानस्तदा।
जन्मतो वानरयोनेः सुग्रीवस्य सहायकमभिप्रायज्ञो गुरुदक्षिणीचकार॥ (मुरारिनाटक)

अर्थात् पूर्व समयमें हनुमान्‌जी अञ्जनीकुमार भगवान् सहस्रकिरण सूर्यदेवसे व्याकरण विद्या पढ़ने गये। जन्मसे ही वानरयोनि सुग्रीवकी सहायता करनेका अभिप्राय जाननेवाले हनुमान्‌जीने अपनेको गुरुदक्षिणामें समर्पण किया। विशेष दोहा ६, ४ देखिये।

नोट—१ *'मुरुछा बीती।'* जब कुम्भकर्ण लङ्काको चला तब उसपर फूलों और अक्षत-चन्दनसहित जलकी मन्द-मन्द वर्षा शहरपनाहपरसे राक्षसोंने की। इससे तथा मार्गकी शीतलतासे उनकी मूर्च्छा दूर हुई, यथा—**'विमानचर्यागृहगोपुरस्थैः पुष्पाग्र्यवर्षैरभिपूज्यमानः॥ लाजगन्धोदवर्षैस्तु सेव्यमानः शनैः शनैः। राजवीथ्यास्तु शीतत्वात् संज्ञां प्राप महाबलः॥'** (वाल्मी० ६७। ८२-८३)

नोट—२ *'निबुकि गएउ तेहि मृतक प्रतीती'* इति। (क) भारी होकर नीचे खिसक पड़े तब उसने जाना कि सुग्रीव मर गया अतएव काँख ढीली कर दी! ढील पाते ही ये कंधेपर चढ़ गये और शीघ्रतासे नाक-कान काटकर गर्जकर आकाशमें चले गये—यह वीर-धर्म किया; अतः आगे इनको 'बलवान्' विशेषण दिया है। (बं० पा०) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि कुम्भकर्णने जाना कि इतनी देरतक इसकी मूर्च्छा न हटी तो यह निश्चय ही मर गया है। मेरी समझमें तो ऐसा जान पड़ता है कि वे शरीरको सिकोड़कर खिसककर जब गिरे तो मृतकवत् बनकर पड़े रहे इससे कुम्भकर्णने जाना कि काँखमें दबे-दबे वह मर गया। अतः उसे उठाया नहीं। वा (ख) इनको मृतक समझता था इससे ढीले दाबे था, अतः ये खिसककर कंधेपर पहुँच गये और नाक-कान काट लिये—(बै०, पु० रा० कु०, करु०)। वा, (ग) सुग्रीव उसको अपने मरनेकी प्रतीति देकर खिसक आये। (पां०)

वि० त्रि०—जब हनुमान्‌जी मूर्छित हो गये, नल-नीलादि सुभट मूर्छित हो गये, वानरी सेना भाग चली, चोट खाकर अङ्गद और सुग्रीव भी मूर्छित हो गये, तब कुम्भकर्ण अपनी जीत मानकर, रावणके लिये उपहाररूपमें सुग्रीवको काँखमें दाबकर चला। उसने समझा कि सुग्रीव मर गये। इसलिये मुर्देकी भाँति उठाकर चला, यदि वह समझता कि केवल मूर्छित है तो मजबूतीसे पकड़े रहता। उधर सुगन्धित वायुके झोंकेसे जब सुग्रीवकी मूर्च्छा जाती रही, तो वे उसकी काँखसे निकल गये, और अपने अपमानका बदला उसकी नाक काटकर दिया।

काटेसि दसन नासिका काना। गर्जि अकास चलेउ तेहि जाना॥ ६॥
गहेउ चरन गहि‡ भूमि पछारा। अति लाघव उठि पुनि तेहि मारा॥ ७॥

* कपि राजहु। † निबुकि गए—(का०)।
‡ 'तेहि धरनि पछारा'—(का०)।

शब्दार्थ—लाघव=फुर्ती, तेजी, शीघ्रतासे। यथा—'*अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा*'—(बा०) ।=सहजहीमें। यथा—'*लछिमन अति लाघव सों नाक कान बिनु कीन्ह।*'

अर्थ—सुग्रीवने दाँतसे उसके नाक-कान काट लिये और गरजकर आकाशको चले, तब कुम्भकर्णने जाना और उनका पैर पकड़कर पृथ्वीपर उनको दे पछाड़ा। फिर सुग्रीवने बड़ी फुर्तीसे उठकर उसे मारा॥ ६-७॥

नोट—१ '*काटेसि दसन नासिका*.........' इति। मिलान कीजिये।—'**सानन्दं कुम्भकर्णस्तदनु कपिभटस्तस्य तूर्णं सकर्णं घ्राणं जग्ध्वा जगाम स्वशिबिरमुदरे कूर्परेणाभिहत्य॥**' (हनु० ११। २५) तत्पश्चात् वानरयोद्धा सुग्रीव कानोंसहित उसकी नाक काटकर उसे कोहनीसे मारकर शीघ्र ही अपने डेरेमें गये।

नोट—२ '*गर्जि चलेउ*', यह उसपर जय सूचित की। गर्जन सुनी तब उसने जाना कि सुग्रीव जीवित है और हाथसे निकल गये। तब उछलकर उनके चरण पकड़कर पृथ्वीपर पछाड़ा '*अति लाघव*' अर्थात् गेंद-सरीखा। जैसे कोई गेंदको पृथ्वीपर पटके और वह उछलकर ऊपर जाय, वैसे ही अति शीघ्र ये उठकर उछले। यथा—'**स कुम्भकर्णो हृतकर्णनासो विदारितस्तेन रदैर्नखैश्च। रोषाभिभूतः क्षतजार्द्रगात्रः सुग्रीवमाविध्य पिपेष भूमौ॥ स भूतले भीमबलाभिपिष्टः सुरारिभिस्तैरभिहन्यमानः। जगाम खं कन्दुकवज्जवेन पुनश्च रामेण समाजगाम॥**' (वाल्मी० ६७। ८७-८८)

पुनि आएउ प्रभु पहिं बलवाना। जयति जयति जय कृपानिधाना*॥ ८॥

अर्थ—फिर बलवान् सुग्रीव प्रभुके पास आये और दयासागर प्रभुकी जय हो, जय हो, जय हो। (इस प्रकार जय-जयकार करने लगे)॥ ८॥

बं० पा०, रा० प्र०—कुम्भकर्ण ऐसे शत्रुसे बचकर और उसके नाक-कान काटकर आये, अतः 'बलवान' कहा। 'कृपानिधान' का भाव कि यह जय आपकी कृपासे ही हुई है, आपकी ही कृपासे मैं छूटा, नहीं तो शत्रुके हाथ तो पड़ ही चुका था।

रा० प्र०—तीन बार जयकारका भाव कि त्रिलोकमें आपकी जय है तथा तीनों शत्रुओंपर जय होगी। (रा० प्र०)

पं०—जयजयकारका भाव कि हम भी छूट आये, हनुमानादि भी सावधान हैं और शत्रुकी नाक-कान काट लिये गये। वा 'तीन' बार कहकर बारम्बार जयजयकार सूचित की।

नाक कान काटे जिय जानी। फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी॥ ९ ॥
सहज भीम पुनि बिनु श्रुति नासा। देखत कपिदल उपजी त्रासा॥ १०॥

शब्दार्थ—**भीम**=भयङ्कर, घोर, भयानक यथा—'**घोरं भीमं भयानकम्**।' (अमरकोश)

अर्थ—(हमारे) नाक-कान कट (वा काट लिये) गये; इस बातको मनमें समझकर उसके मनमें ग्लानि हुई (कि ऐसे जीवन और पुरुषार्थको धिक्कार है) और वह क्रोधमें भरकर (रास्तेसे) लौट पड़ा॥ ९॥ एक तो वह स्वभावसे ही भयंकर था फिर उसपर भी अब नकटा-बूचा होनेसे और भी भयङ्कर हो गया, अतः वानरसेनामें उसे देखते ही भय उत्पन्न हो गया॥ १०॥

नोट—१ '*नाक कान काटे जिय जानी*' इति। इससे जनाया कि (क) कुम्भकर्ण ऐसा समरधीर और बलवीर है कि शरीरके अङ्ग कटनेतककी सुधि नहीं हुई। (ख) ऐसा मदमत्त है कि नशेमें अबतक उसे न मालूम हुआ, अब जान पड़ा। (ग) सुग्रीवने अत्यन्त फुर्ती की थी।

नोट—२ '*फिरा क्रोध करि*' इति। पहले विजय पाकर जा रहा था, अब पराजय कैसी कुछ हुई कि नाक-कान काट लिये गये। नाक कटनेसे मनुष्य प्रतिष्ठाहीन हो जाता है। प्रतिष्ठा गयी, सब हँसेंगे कि बड़ी डींग मारकर गया था, नाक-कान भी कटा आया, इससे अब सबको मारकर ही जाऊँगा या मर ही जाऊँगा। लङ्कामें जाकर क्या मुँह दिखाऊँगा, यह समझकर लौट पड़ा।

पुनः ग्लानि कि जिसकी जीतेजी यह गति की जाय, उसके बल-पुरुषार्थको धिक्कार है। यथा—'**खरदूषन**

* 'जय जय कारुनीक भगवाना'—(का०)

पहिं गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥' (३। १८। २), *'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ।'* (३। २१)

नोट—३ *'सहज भीम .....'* इति। भाव कि वह ऐसे ही भयङ्कर था उसपर भी अब नाक-कानरहित होनेसे अति विकराल हो गया। यथा—*'नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्त्रव सैल गेरु कै धारा॥'* (३। १८। १) यहाँ दूसरा समुच्चय अलङ्कार है। मिलान कीजिये। यथा—**'निःश्वस्योत्सृज्य बाष्पं नयनकमलयोश्चात्मनो वारि दत्त्वा कृत्वा लङ्कोपगूढं सकरुणमपुनर्भाविनीत्वा त्रिशूलम्। क्रोधान्धः कालमूर्तिः प्रलयहुतवहाङ्गारनेत्रो विकर्णच्छिन्नघ्राणोऽवतीर्णः पुनरपि समरप्राङ्गणे कुम्भकर्णः॥'** (हनु० ११। २६)

अर्थात् श्वास लेता, अश्रुपात करता हुआ, करुणासहित फिर न होनेवाले लङ्काके आलिङ्गनको करके त्रिशूल लेकर क्रोधान्ध, कालमूर्तिसदृश, प्रलयाग्निके अङ्गारके तुल्य नेत्रोंवाला, नकटा-बूचा कुम्भकर्ण फिर भी समरभूमिमें आया।

नोट—४ *'देखत उपजी त्रासा'* भाव कि पूर्व तो जब नल-नीलादिको उसने पछाड़ा और बहुत-से वानरोंको मार डाला था तब डरकर भगे थे और अब तो उसको देखते ही भयभीत हो गये।

दो०—जय जय जय रघुबंसमनि धाए कपि दै हूह।
एकहि बार[1] तासु पर छाड़ेन्हि[2] गिरि तरु जूह॥ ६५॥

शब्दार्थ—**हूह**=वानरोंका हर्षसूचक शब्द। हुँकार, किलकिला, युद्धनाद। **जूह**=यूथ=झुण्ड।

अर्थ—'जय जय जय रघुबंशमणि' ऐसा हर्ष सूचक नाद करके वानर दौड़े और सबने उसपर पर्वत और वृक्षोंके समूह एक साथ ही छोड़े॥ ६५॥

नोट—*'रघुबंसमनि'* इति। दिव्य शोभा तथा वज्राङ्ग जनानेके लिये 'मणि' कहा। (बं० पा०) *'एकहि बार।'* भाव कि बहुत डरे हुए हैं अतः सबने मिलकर एक साथ ही उसपर गिरि-वृक्षादि चलाये। (रा० प्र०)

कुंभकरन रनरंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा॥ १॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टिड्डी गिरि गुहा समाई॥ २॥

अर्थ—कुम्भकर्ण वीररसमें रँगा हुआ विरोध भावसे सन्मुख चला मानो काल क्रोधित होकर आ रहा है॥ १॥ वह करोड़ों-करोड़ों वानरोंको पकड़-पकड़कर खाने लगा मानो टिड्डियाँ पर्वतकी गुहामें समा रही हैं॥ २॥

नोट—१ (क) *'काल जनु क्रुद्धा'* इति। जैसे प्रलयके समय काल प्रजाओंका संहार करता है, वैसे ही वह वानरोंको खाने लगा है। यथा—**'यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते स भक्षयामास हरींश्च मुख्यान्।'** (वाल्मी० ६७। ९४) इस आशयको प्रकट करनेके लिये *'काल जनु क्रुद्धा'* की उत्प्रेक्षा की। (ख) कालका पाँवसे चलना असिद्ध है क्योंकि वह दृश्यमान नहीं है और कुम्भकर्ण राक्षस है, काल नहीं है। अतः यहाँ 'असिद्ध विषयाहेतूत्प्रेक्षा' अलङ्कार है। (वीर)

नोट—२ (क) *'कोटि कोटि कपि.........'* इति। मिलान कीजिये—**'नीलाञ्जनचयप्रख्यः ससंध्य इव तोयदः॥ युद्धायाभिमुखो भीमो मनश्चक्रे निशाचरः॥' 'शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत्तथैव च। संपरिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति॥'** (वाल्मी० ६७। ९१, ९८) अर्थात् नीलाञ्जनसमूह तथा संध्या-समयके बादलोंके समान भयङ्कर रूप निशाचरने फिर भी युद्धकी इच्छा की और सात, आठ, बीस, तीस, सैकड़ोंको हाथसे पकड़-पकड़कर खाता हुआ आगे दौड़ता है। *'कोटि कोटि'* का इस प्रकार यहाँ 'अगणित' अर्थ है। (ख) *'जनु टिड्डी.........'* इति। टीड़ी गिरिगुहामें प्रवेश करती ही है और वहाँ छिप जानेसे बचती हैं। अतः इसकी उत्प्रेक्षासे सूचित किया कि ये वानर भी मुखमें जानेसे मरेंगे नहीं, बच जायेंगे, जैसा आगे स्पष्ट है।

१ जो तासु—का०, को० रा०।
२ डारेन्हि—को० रा०। छाड़ेन्हि—का०, १७२१, १७६२।

कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा॥ ३॥
मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा। निसरि पराहिं भालु कपि ठाटा॥ ४॥

अर्थ—करोड़ोंको पकड़कर उसने देहसे मसल डाला। करोड़ोंको हाथोंसे मलकर पृथ्वीकी धूलिमें मिला दिया॥ ३॥ रीछों और वानरोंके ठट्ट-के-ठट्ट उसके मुँह, नाक और कानोंकी राह निकलकर भाग रहे हैं॥ ४॥

नोट—१ हनुमान्‌जीने अशोकवनमें जैसे *'कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।'* वैसे ही यहाँ कुम्भकर्णने किया। यह दूसरा मिलान कुम्भकर्ण-हनुमान्‌जीका है। मानो हनुमान्‌जीके कृत्यका बदला लिया।

नोट—२ *'मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा।'''''''* इति। यथा—'**प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे। नासापुटाभ्यां निर्जग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः॥**' (वाल्मी० ६७। ३५) इससे कुम्भकर्णके स्थूल शरीरकी अत्यन्त विशालता सूचित की। इससे जान पड़ता है कि वह मुँहमें डालता जाता था, चबाता न था, एकदम पेटभर जानेपर चबाने और पचानेको सोचा होगा।

रन मद मत्त निसाचर दर्पा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा॥ ५॥
मुरे सुभट सब* फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे॥ ६॥
कुंभकरन कपि फौज बिडारी। सुनि धाई रजनीचर धारी॥ ७॥
देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई॥ ८॥

शब्दार्थ—**दर्पा**=दर्पित, गर्वित हुआ। **अर्पना**=अर्पण वा भेंट करना। **टेरना**=बुलाना, जोरसे पुकारना, हाँक लगाना। **बिडारना**=भयभीत करके भगा देना वा तितर-बितर कर देना। **धारी**=लूट-मार करनेवाली सेना (पु० रा० कु०)।

अर्थ—रणमदमाता कुम्भकर्ण इस तरह दर्पित हुआ मानो विधाताने संसार इसके अर्पण कर दिया है और उसे यह ग्रास करेगा॥ ५॥ सब बड़े योद्धाओंने (युद्धसे) मुँह मोड़ लिया। वे लौटानेसे भी नहीं लौटते। नेत्रोंसे सुझायी नहीं पड़ता और पुकारनेसे सुनते नहीं॥ ६॥ कुम्भकर्णने कपिदलको तितर-बितर कर दिया, यह सुनकर निशिचर-सेना दौड़ी॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि सेना व्याकुल है और नाना प्रकारकी शत्रु-सेना आ गयी है॥ ८॥

शीला—आज कुम्भकर्ण कालरूप है—*'काल जनु क्रुद्धा।'* विधाताकी आज्ञासे काल सदा विश्वको खाया ही करता है।—*'काल बिलोकत ईस रुख'''''''* (दो० ५०४) आज मानो विधाताने सारा विश्व इसीको अर्पण कर दिया कि खा ले। (पं० पां०) अथवा, '*अर्पा*=सङ्कल्प किया। इस प्रकारका सङ्कल्प किया है कि आज विश्वभरको भक्षण कर लूँगा, कोई बचने न पायेगा। नहीं तो विश्वका नाश प्रलयमें ही होता है।—(दूसरा अर्थ आधुनिक कई टीकाकारोंने 'ग्रहण' किया है पर 'अर्पण' के इस अर्थका उदाहरण हमें नहीं मिला)।

पां०, रा० प०, रा० प्र०—**अर्पा**=सङ्कल्प किया। भाव कि जैसे अर्पण करके नैवेद्य लगाते हैं, यथा—'**श्रीरामार्पणमस्तु**', वैसे ही इसने अर्पण किया है, भोग लगाकर अब भोजन करेगा। 'दर्पा' अर्थात् अभिमानमें आया। भाव कि रणरूपी मदसे मतवाला होकर आया है, इसीसे अहङ्कार है कि मैंने इतनेको मारा कि कोई सामने नहीं आ सकता।

वीरकवि—ब्रह्माने कुम्भकर्णके भक्षणके लिये विश्व अर्पण नहीं किया है। झुण्ड-के-झुण्ड वीरोंको साथ ही खाते देख इस अहेतुको हेतु ठहराकर उत्प्रेक्षा करना 'सिद्ध विषयाहेतूत्प्रेक्षा' है।

नोट—१ *'मुरे सुभट'''''''* इति। पूर्व सेना भगी, अब '***सुभट***' यूथपति भी भागे। पहले यूथप मूर्छित थे, सेनाको कौन लौटाता? इस समय नल-नीलादि भगे, तब अङ्गदने लौटाया है। यथा—'**तांस्तु विप्रद्रुतान्दृष्ट्वा**

* रन (का०)।

राजपुत्रोऽङ्गदोऽब्रवीत्। नलं नीलं गवाक्षं च कुमुदं च महाबलम्॥' (वाल्मी० ६६। ४) कानों एवं नेत्रोंमें मज्जा-मांस भर जानेसे न सुनायी देता है न सूझता है।

पु० रा० कु०—कुम्भकर्णको अहङ्कार कहा है।—'तद्भ्रात अहङ्कार' है। इससे भागना ही चाहिये। इसकी ओर न देखना चाहिये।

नोट—२ वाल्मी० ६६ में अङ्गदका नील, नल, गवाक्ष, कुमुद आदिके भागनेपर बहुत प्रकारसे समझाना ११ श्लोकोंमें लिखा है। जैसे भगवान्‌ने अर्जुनको समझाया वैसे ही यहाँ अङ्गदने समझाया था। पहले सुग्रीवका भय दिया कि तुम कहीं जाओगे तो राजासे बच न सकोगे। दूसरे, यह समझाया कि वीर होकर पीठ देनेसे स्त्रियाँ हँसेंगी जिससे जीतेजी भी तुम मृतकसे भी बुरी दशामें रहोगे। यदि आयुर्बल क्षीण हो चुका है तो सन्मुख मरनेसे ब्रह्मलोक प्राप्त होगा। जय होगी तो लोकमें कीर्ति और मरे तो वीरोंके लोकोंका भोग करेंगे। फिर समझाया कि श्रीरामजीके सामने होते ही यह जीवित नहीं रह सकता। (श्लोक १८-२८) पर वे फिर भी न लौटे, तब फिर समझाया और लौटाया।—*'फिरहिं न फेरे'* में अङ्गदका यह समझाना कविने गुप्त रीतिसे कह दिया है।

वि० त्रि०—*'कुंभकरन……धारी'* इति। कुम्भकर्णने वानरी सेनाको तितर-बितर कर दिया, यह सुनकर निशाचरी सेना दौड़ी कि यही अवसर शत्रुकी सेनाके संहारके लिये उपयुक्त है। छितरी-बितरी हुई सेना सङ्गठित सेनाका किसी प्रकारसे सामना नहीं कर सकती। इस समय आक्रमण करनेसे सारी वानरी सेनाका विध्वंस करना सुन्दर है, जो जो भागेंगे उनका पीछा करके ऐसा तितिर-बितिर कर देना चाहिये कि फिर इकट्ठा होना दुष्कर व्यापार हो जाय।

☞ यह सेना खरदूषणकी सेनाके समान भयङ्कर और मायावी है यह जनानेके लिये वहाँ और यहाँ *'धारि, बिपुल नाराच, बिकट पिशाच'* आदि एक-से शब्द आये हैं। मिलान दोहा ६७ में देखिये, वहाँपर भी *'धारि'* शब्दका आदिमें प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी। इनके भाव मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे और आ० २० के छन्दमें देख लें।

दो०—सुनु* सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सेन।
मैं देखौं खलबल दलहि बोले राजिवनयन॥ ६६॥

शब्दार्थ—देखना=उपाय या प्रतिकार करना, करना हो सो करना।

अर्थ—राजिवनयन श्रीरामजी बोले—हे सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मण! सुनो। तुम सेनाको सँभालना, मैं इस दुष्टके बल और दलको देखता हूँ॥ ६६॥

नोट—१ पु० रा० कु०—*'देखी राम बिकल कटकाई'* और यहाँ *'मैं देखौं'* के सम्बन्धसे 'राजिवनयन' कहा। *'राजिवनयन'* पद प्रायः वहीं-वहीं प्रयुक्त हुआ है जहाँ-जहाँ प्रभुका जनके दुःखहरण करनेका प्रसङ्ग है। *'राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* (१। १८। १०) *'राजीव बिलोचन भव भय मोचन……।'* (१। २११ छन्द) देखिये। [कुम्भकर्णने रावणसे कहा था कि मैं जाकर कमलनयनको देखूँ, यथा—*'स्यामगात सरसीरुह लोचन। देखउँ जाइ ताप त्रयमोचन॥'* अतएव उसके भावके अनुकूल कविने यहाँ *'राजिवनयन'* पद दिया। पुनः, 'त्रयताप' मिटाकर मुक्ति देंगे यह शीतलता दिखानेके लिये *'राजिवनयन'* कहा। (बं० पा०)]

नोट—☞ २—यहाँ **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इस भगवद्वाक्यको चरितार्थ किया है। कुम्भकर्णने कहा कि *'देखउँ जाइ'* अतः प्रभु भी कहते हैं कि *'मैं देखउँ खल।'* वह 'त्रयताप' छुड़ाने चला था और प्रभु उसके तापको छुड़ावेंगे, यथा—*'राजीव बिलोचन भवभयमोचन।'*

पं०—सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मणजीको ही कहनेका भाव यह है कि ये कुम्भकर्ण और मेघनादसे

* सुनु सौमित्रि कपीस तुम्ह सकल सँभारेहु सैन—का०, मा० म०।

युद्ध करके घायल और थके हैं इससे अब ये विश्राम करें, मैं संग्राम करूँ। वा, सेनाकी रक्षा भी जरूरी है और कुम्भकर्णवध अपने ही हाथ है, इससे उन्हें सेना सँभालनेको कहा।

बं० पा०—दोनों विशेष सावधान रहें, इससे लक्ष्मणको पीछे कहा।

मा० म०—वानरोंपर कृपा करुणा है। अतः लक्ष्मण और सुग्रीवसे कहा कि अब इनका सँभार करो। भाव कि वानर श्रमित हो गये हैं अब मारे न जायँ, विश्राम करें। अतः युद्धसे वानरोंको निवृत्त किया।

पं०—युद्धमें तो क्रोध भरे अरुण नयन होने चाहिये, यहाँ राजिव-नयन क्यों कहा? उत्तर—सुग्रीवादिपर कृपादृष्टि की, और कुम्भकर्णको दया करके मोक्ष देना है। कृपादृष्टि है, इसीसे *'देखौं खलबल'* कहा *'मारौं खलदल'* न कहा। रोष होता तो *'मारौं खल'*……' कहते।

कर सारंग साजि* कटि भाथा। अरि दल दलन† चले रघुनाथा॥ १॥

प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा। रिपुदल बधिर भएउ सुनि सोरा॥ २॥

शब्दार्थ—टंकोर (टंकार)=धनुषकी प्रत्यञ्चा (डोरी) को खींचकर जो शब्द किया जाता है।

अर्थ—हाथमें शार्ङ्गधनुष और कमरमें तरकश सजकर श्रीरघुनाथजी शत्रु और उसकी सेनाको नष्ट करने चले॥ १॥ प्रभुने पहले धनुषका टंकोर शब्द किया। (प्रत्यञ्चा चढ़ाकर खींचा) जिसके शोरसे शत्रुदल बहिरा हो गया॥ २॥

नोट—१ 'शार्ङ्ग' धनुष—यह श्रीरघुनाथजीका मुख्य आयुध है, इसीसे श्रीरामजीके लिये 'शार्ङ्गपाणि' रूढ़ि है। शार्ङ्गपाणि कहनेसे उन्हींका बोध होता है, जबतक दूसरेका नाम बताया न जाय। यथा—*'बिप्र साधु सुर धेनु धरनिहित हरि अवतार लयो। सुमिरत श्रीसारंगपानि छन में सब सोच गयो॥'* (गी० १। ४५)

बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'शार्ङ्ग' नामका धनुष विष्णुहीके हाथमें रहता है। रामावतारके समय जो शार्ङ्ग बतलाया है, वह विश्वकर्माका बनाया हुआ साढ़े तीन हाथ लम्बा था। मनुष्योंके लिये शार्ङ्ग धनुष छः बीताका होता है और उसको घुड़सवार तथा हाथीके सवार लेते हैं। रथी और पदाती बाँसका धनुष लेते हैं। मानुषीय शार्ङ्ग भैंसके सींग आदिसे बनता है और वह **'शार्ङ्गिकं त्रिणतं प्रोक्तम्'** तीन जगहसे टेढ़ा होता है। पूर्व सतयुगमें ब्रह्मादि देवगणोंके युद्ध करनेपर २५ पेरवेका एरंड वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसके ९ पेरवेका विष्णुका धनुष शार्ङ्ग, ७ का शिवजीका पिनाक, ५ का कोदंड जो रामचन्द्रजीका धनुष है, ३ का गाण्डीव जो अर्जुनका था और १ पेरवेकी श्रीकृष्णचन्द्रजीकी वंशी बनी थी। (वृद्ध० सा०)

बं० पा—१ (क) *'साजि कटि भाथा'* अर्थात् कमरमें तरकशको खूब मजबूत बाँधकर। (ख) *'अरि दल दलन चले रघुनाथा'*—यहाँ शूरताके सम्बन्धसे वंश-सम्बन्धी '*रघुनाथा*' नाम दिया। कुम्भकर्णने सबकी अनाथोंकी-सी दशा कर दी, ये जाकर सबको सनाथ करेंगे। प्रभुने जो सुग्रीवादिसे कहा था कि *'मैं देखौं खल बल दलहि'* उसीके सम्बन्धसे यहाँ *'अरि दल दलन'* चले कहा। '*अरिदल*' में अरि और उसका दल दोनोंका भाव है।

'प्रथम कीन्ह धनुष टँकोरा।' प्रतिपक्षी वीरोंको सावधान करनेके लिये टंकार किया, यथा—**'रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम्। शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव॥'** (वाल्मी० ५। २१। २४; सीतावाक्य रावणप्रति) अर्थात् तुम इन्द्रके चलाये वज्र-गर्जनके समान श्रीरामजीके धनुषका भयङ्कर शब्द सुनोगे।

नोट—२ '*प्रथम*' अर्थात् युद्धारम्भके पहले। *'रिपुदल बधिर भयो'*………' इति। इससे जनाया कि धनुषका टंकार बहुत कठोर और भयङ्कर था। यथा—*'प्रभु कीन्ह धनुष टकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भए बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा॥'* (३। १९)—यही भाव यहाँ है।

---

* बिसिख।

† मृगपति ठवनि चले रघुनाथा—को० रा, का०। मृगपति ठवनिका भाव कि सहज स्वाभाविक चले, कुछ आतुरता नहीं है। वा, अपनी सेना बचाने और शत्रु-सेनाका नाश करनेके लिये परम वेगसे चले। दोहा १८ देखिये।

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा*। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥ ३॥
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा†। लगे कटन भट बिकट पिसाचा॥ ४॥

शब्दार्थ—नाराच=वह तीर जो सारा लोहेका हो। शरमें चार पंख लगे होते हैं और नाराचमें पाँच। इसका चलाना बहुत कठिन है।=नल्लसर जो यवन भाषामें खुदङ्गः कहलाता है और नावकसे छोटा होता है—(रा० प्र०)।

अर्थ—फिर सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने एक लक्ष बाण छोड़े। वे ऐसे चले मानो पक्षयुक्त काल सर्प चले हों॥ ३॥‡ जहाँ-तहाँ बहुत-से नाराच-बाण चले। विकट योद्धा निशिचर कटने लगे॥ ४॥

शीला—'*सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा।*..........' इति। ☞(क) श्रीरामजी सत्यसंध हैं। उन्होंने जो कहा है कि मैं कुम्भकर्णको 'दलसहित देखूँ' उसे परास्त करेंगे, इसीसे लक्ष बाण चलाये। (ख) यहाँ शङ्का होती है कि एक लक्ष बाण धनुषमें कैसे अमाये। प्रमाणं—'**तूणेनैकशरं करेण दशधा संधानकाले शतं। चापेऽभूत सहस्रलक्षगमने कोटिं च कोटिं वधे। अन्ते अर्विनिखर्विबाणनिकरैस्सीतापतेः शोभितमेतद्बाणपराक्रमस्य महिमा सत्पात्रदाने यथा॥**'

अर्थात् जिस तरह सत्पात्रमें एक दान अनेक होकर फलता है, उसी तरह श्रीरामजीका बाण तरकशमें एक रहता है; हाथमें आते ही दस हो जाता है, संधानके समय सौ हो जाता है, और धनुषपर रखते ही हजार हो जाता है तथा चलते समय एक लक्ष हो जाता है, शत्रुवध करनेके समय कोटि-कोटि हो जाता है और अन्त समय वह अर्ब-खर्ब बाणोंका समूह हो जाता है। यह उनके बाणकी महिमा है।

श्रीरामजीने धनुषपर बाण चढ़ाया, इसका उल्लेख न करके गोस्वामीजीने वह संख्या लिख दी जो उसमेंसे छूटे। [इसीसे '**छाँड़े**' पद दिया, सन्धाने या चलाये न दिया]। छोड़े जानेपर लक्ष हो जाते हैं।

प० प० प्र०—'*छाँड़े सर लच्छा*' में भाव यह है कि कोई यह नहीं देख पाता कि श्रीरामजी तरकशसे बाण कब लेते हैं, कब उस धनुषपर लगाते और कब खींचते हैं। यथा—'*लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥*'

'*काल सर्प जनु चले सपच्छा*' इति। मेघनादके बाणोंके वर्णनसे मिलान कीजिये। यथा—'*अतिसय कठिन बान संधाने। अतिसय क्रोध श्रवन लगि ताने॥ सर समूह सो छाँड़ै लागा। जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा॥*' (उसका सन्धानना, कानतक खींचना और छोड़ना सब देख पड़ा। पर राघवको बाण छोड़तेमात्र देखा)। मेघनादके बाण पक्षयुक्त सर्पके समान चले और श्रीरामजीके बाण सपक्ष कालसर्पके समान चले। इस तरह इनके बाणोंको अत्यन्त कराल और प्राणहारक जनाया।

नोट—'**पिशाच**' इति। (क) निशाचरोंको पिशाच कहकर जनाया कि ये ऐसे विकट हैं कि इनकी ओर देखा नहीं जाता, देखनेसे भय लगता है। (पु० रा० कु०) अथवा, 'पिशाच प्रेत राक्षसोंको एक पर्यायसे कहा' (बं० पा)। अथवा, वीर टुकड़े-टुकड़े होकर गिरते हैं फिर उठते हैं अतः इन राक्षसोंको पिशाच कहा। यथा—'***महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी। सुत डरत चौदह सहस प्रेत*** ....॥' (३। २०)

वि० त्रि०—'**पिशितं आचमनीति पिशाचयः।**' मांस खाते हैं, इसलिये पिशाच कहलाते हैं। ये सब कुम्भकर्णद्वारा बिदारे हुए सैनिक बन्दरोंको मार-मारकर खाना चाहते थे, इसीलिये इन्हें पिशाच कहा। ये जहाँ-जहाँ थे वहाँ-वहाँ सरकारके नाराच चले। इसलिये कहते हैं कि '***जहँ तहँ चले***।' ये नाराच अप्रतिक्रिय थे। अतः निरुपाय होकर जो दूसरोंको मारने-काटने आये थे, वे कटने लगे।

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सत खंडा॥ ५॥
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं। उठि संभारि सुभट पुनि लरहीं॥ ६॥

---

* लक्षा सपक्षा—भा० दा०।

† अति तब चले निसित नाराचा—का०। अर्थात् तब बड़े वेगसे चोखे नाराच चले।

‡ सब सर्प पक्षधर नहीं होते न उड़ ही सकते हैं, 'अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है—(वीर)

लागत बान जलद* जिमि गाजहिं। बहुतक देखि कठिन सर भाजहिं॥ ७॥
रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं॥ ८॥

अर्थ—किसीके पैर, किसीकी छाती, किसीका सिर, किसीके भुजदण्ड कटते हैं और बहुत-से वीरोंके सौ-सौ टुकड़े हो रहे हैं॥ ५॥ चक्कर खा-खाकर घायल पृथ्वीपर गिरते हैं। जो सुभट (उत्तम योद्धा) हैं वे सँभलकर उठके फिर लड़ते हैं॥ ६॥ बाण लगते ही वे मेघकी तरह गरजते हैं। बहुत-से कठिन बाण देखकर भागते हैं॥ ७॥ बिना सिरके प्रबल भयङ्कर और वेगवान् धड़ दौड़ते हैं और 'धरो पकड़ो, धरो पकड़ो, मारो मारो' शब्द कर रहे हैं। (बड़ी ध्वनिसे ये शब्द अलाप रहे हैं)॥ ८॥

नोट—१ *'धरु मारु मारु धुनि गावहिं',* भय उत्पन्न करनेके लिये। (क) *'धुनि गावहिं'* का भाव कि ऐसा शब्द वे नाच-गाकर करते हैं, उनको इसमें सुख हो रहा है। (ख)—उठकर सँभलकर लड़ते हैं, यह वीरताकी प्रधानता है, इसलिये सुभट कहा।

नोट—२ बं० पा०—*'जलद जिमि गाजहिं',* यहाँ गम्भीरता धर्म लेकर जलदका-सा गरजना कहा। प्रथम बड़े जोरसे गर्जे, फिर मरते समय मन्द-मन्द गर्जे। मुण्डका बोलना और रुण्डका दौड़ना 'द्वितीय विभावना' अलङ्कार है।

दो०—छन महुँ प्रभु के सायकन्हि काटे बिकट पिसाच।
पुनि रघुबीर निषंग† महुँ प्रबिसे सब नाराच॥ ६७॥

कुंभकरन मन दीख बिचारी। हति छन माँझ‡ निसाचर धारी॥ १॥
भा卐 अति क्रुद्ध महाबल बीरा। कियो मृगनायक नाद गँभीरा॥ २॥

अर्थ—प्रभुके बाणोंने क्षणमात्रमें विकट पिशाचोंको काट डाला फिर सब बाण आकर रघुवीर श्रीरामजीके तरकशमें प्रवेश कर गये॥ ६७॥ कुम्भकर्णने मनमें विचार देखा कि (मेरे रहते) क्षणमात्रमें निशाचर-सेना मार डाली गयी॥ १॥ वह महाबलवीर बड़ा क्रोधित हुआ और उसने गम्भीर सिंहनाद किया॥ २॥

नोट—*'भा अति क्रुद्ध..........।'* क्रोधकी तीन आवृत्तियाँ यहाँतक दिखायीं। (१) प्रथम बार क्रोध न था। (२) दूसरी बार नाक-कान काटनेपर क्रोध हुआ, यथा—*'नाक कान काटे जिय जानी। फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी॥'* (६५। ९) तब कविने *'काल जनु क्रुद्धा'* की उत्प्रेक्षा की। (३) जब रामजीने विकट पिशाची सेनाका नाश कर दिया तब '*भा अति क्रुद्ध*'। इस तरह उत्तरोत्तर क्रोधकी वृद्धि दिखायी। ७० (७-८) देखिये।

पं०—'*मृगनायक नाद*' करनेका भाव कि जैसे अनेक मृगोंसे सिंह भय नहीं करता वैसे ही वानरोंको देख इसे भय नहीं है, वानरोंको देखकर गर्जा।—[मत्तगजराजोंके समूहको देखकर जैसा उत्साह सिंहको होता है वैसा ही वानरसेनाको देख उनके मर्दन करनेका उत्साह इस समय इसमें भरा हुआ है।]

पु० रा० कु०—कुम्भकर्णको अहङ्कार कहा है। अहङ्कारी सुने सबकी, करे मनकी। सब सहायक मारे गये यह देख क्रोध हुआ। उसने अहङ्कार भरा सिंहवत् गर्जन किया। अहङ्कारमें भरकर लोग बड़े-बड़ोंको निर्मूल करते हैं पर जो, अहङ्कारके भी नियन्ता प्रभुकी शरण जाते हैं उन्हें प्रभु बचा लेते हैं।

कुम्भकर्ण-युद्धका खरदूषण-युद्धसे मिलान

कुम्भकर्ण युद्धमें	खरदूषण युद्धमें
सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सेन	*१ लेइ जानकिहि जाहु गिरिकंदर*
रिपु अनीक नाना बिधि आई	*२ आवा निसिचर कटक भयङ्कर*

* बनद—का०। † पुनि रघुपतिके त्रोन महुँ। ‡ हती निमिष महुँ निसिचर। 卐 भएउ क्रुद्ध दारुन बलबीरा।—का०, को० रा०।

सुनि धाई रजनीचर धारी	*३ थकित भई रजनीचर धारी*
(१) प्रथम (२) कीन्ह (३) प्रभु (४) धनुष	*४ (३) प्रडू (२) कीन्ह (४) धनुष (५) टंकोर*
(५) टँकोरा (६) सुनि सोरा	*(१) प्रथम (६) कठोर घोर भयावहा*
रिपु दल बधिर भयउ	*५ जातुधान भये बधिर ब्याकुल*
पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक	*६ तानि सरासन श्रवन लगि।.........कोपेउ समर.........*
छाँड़े अति कराल बहु सायक	*७ तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल*
सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा	*८ तब चले बान कराल*
काल सर्प जनु चले सपच्छा	*९ फुँकरत जनु बहु ब्याल*
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा	*१० छाँड़े बिपुल नाराच*
लगे कटन भट बिकट पिसाचा	*११ लगे कटन बिकट पिसाच*

☞ बाणोंकी दो आवृत्तियाँ हुईं। साधारणको सर्पवत् बाणोंसे और विकट पिशाचोंको नाराचसे मारा। दोनों जगह भट और विकट पिशाच हैं।

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा	*१२ उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन*
बहुतक बीर होहिं सत खंडा	*१३ भट कटत तन सत खंड*
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं	*१४ जहँ तहँ महि परहिं*
उठि संभारि सुभट पुनि लरहीं	*१५ उठि लरहिं। पुनि उठत करि पाखंड*
लागत बान जलद जिमि गाजहिं	*१६ चिक्करत लागत बान। धर परत कुधर समान*
बहुतक देखि कठिन सर भाजहिं	*१७ अवलोकि खरतर तीर। फिर चले निसिचर..........*

☞ खरदूषणादिने सेनाको डाँटकर फेरा, पर कुम्भकर्णको सेनाकी परवा नहीं, अतः उसने न फेरा।

रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं	*१८ नभ उड़त बहु भुज मुंड। बिनु मौलि..........*
धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं	*१९ धरु धरु धरु करहिं भयंकर गिरा*

कोपि महीधर लेइ उपारी। डारै जहँ मर्कट भट भारी॥ ३॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे। सरन्हि कांटि रज सम करि डारे॥ ४॥
पुनि धुन तानि कोपि रघुनायक। छाँड़े अति कराल बहु सायक॥ ५॥
तनु महुँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं। जिमि दामिनि घन माँझ समाहीं॥ ६॥

अर्थ—वह क्रोधित होकर पर्वत उखाड़ लेता है और जहाँ भारी वानर योद्धा होते हैं वहीं डाल देता है॥ ३॥ भारी पर्वतोंको आते देख प्रभुने बाणोंसे उन्हें काटकर धूलिके समान कर डाले॥ ४॥ फिर धनुषको तानकर श्रीरघुनाथजीने क्रोधित होकर बहुतसे अत्यन्त कराल (तीक्ष्ण, कठिन) बाण छोड़े॥ ५॥ वे बाण उसके शरीरमें घुसकर निकल जाते हैं जैसे बिजलियाँ मेघमें समा जाती हैं॥ ६॥

वि० त्रि०—*'कोपि महीधर.......भट भारी'* इति। जब कुम्भकर्णने देखा कि सारी निशाचरी सेना क्षणभरमें मारी गयी, और बड़ी कठिनतासे तितर-बितर की हुई वानरीसेना फिर जुट चली। सुग्रीवादि भारी सुभट लोग जहाँ-तहाँ खड़े होकर छितराये हुए सैनिकोंको एकत्र कर रहे हैं, तो उसे बड़ा क्रोध हुआ, और बड़े-बड़े पर्वत उखाड़-उखाड़कर उन भारी भटोंके ऊपर फेंकने लगा।

नोट—१—*'भट भारी।'* भाव कि सामान्य वीरोंसे नहीं बोलता, बड़ोंसे ही भिड़ता है। *'भारे'* जिसमें दूरतक फैली हुई सेनाका नाश हो। *'सरन्हि मारि'*—ये वज्रास्त्र हैं—(बं० पा०) नोट—२ पुनि कहा क्योंकि एक बार पूर्व इसी तरह छोड़ चुके हैं।—*'सरन्हि काटि रज सम करि डारे।'* नोट—३ *'अतिकराल'* अर्थात् जैसे सर्प फुफुकारते हों,—*'तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल।.......अवलोकि खरतर तीर।'* (३। २०) नोट—४ *'दामिनि घन माँझ समाहीं।'* यहाँ श्रीरामजीके सुनहले फोंकवाले बाण बिजली हैं, कुम्भकर्णका

काला शरीर काला मेघ है। यहाँ ताबड़तोड़ बाणोंका शरीरमें समाना उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

☞ मिलान कीजिये—'**नीलाञ्जनचयप्रख्यैः शरैः काञ्चनभूषणैः। आपीड्यमानः शुशुभे मेघैः सूर्य इवांशुमान्॥**' (वाल्मी० ६७। १०४) अर्थात् नील और अञ्जनके समूहके सदृश राक्षस सुवर्णविभूषित बाणोंसे मारा जानेपर मेघोंसे युक्त किरणोंसहित सूर्यके समान शोभित हुआ।

सोनित स्त्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जलगिरि मेरु पनारे॥ ७॥
बिकल बिलोकि भालु कपि धाए। बिहँसा जबहिं निकट* कपि आए॥ ८॥

शब्दार्थ—**पनारा**=परनाला, वह मार्ग जिससे घरमेंका पानी बहकर बाहर निकलता है।

अर्थ—उसके काले शरीरसे रुधिर बहता हुआ ऐसा शोभा देता है मानो काजलके पर्वतमें गेरूके परनाले बह रहे हों॥ ७॥ उसे व्याकुल देखकर रीछ-वानर दौड़े। ज्यों ही वानर पास आये वह खिलखिलाकर हँसा॥ ८॥

नोट—१ (क)—'***कज्जलगिरि***' की उपमा अत्यन्त काले और पर्वताकार होनेसे दी। गेरू और शोणित दोनों लाल। खून बह रहा है, इसलिये 'पनाले' की उपमा दी। साधारण पर्वत बहुत काले नहीं होते इससे काजलका पर्वत कहा। पुनः कज्जलगिरिका भाव कि यह बहुत शीघ्र नष्ट हो जायगा। मिलान कीजिये—'**स बाणैरतिविद्धाङ्गः क्षतजेन समुक्षितः। रुधिरं परिसुस्त्राव गिरिः प्रस्त्रवणं यथा॥**' (वाल्मी० ६७। १२१) जिस तरह पर्वतसे झरने झरते हैं उसी तरह उन बाणोंसे विद्ध घावयुक्त होकर उसके अङ्गोंसे रक्त बहने लगा। (ख)—काजलके पहाड़पर गेरूके पनालेकी कल्पना होनेसे 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' हुआ।

नोट—२ (क) '***बिहँसा***'। यह निरादरसूचक है। भाव कि पूर्व अत्यन्त भयभीत होकर भागे थे, यथा—'***चली बलीमुख सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई॥***' (६४। १०) अपनी वह दुर्दशा भूल गये, अब हमारे निकट फिर आये; समझते हो कि अब मैं पुरुषार्थहीन हो गया, तुम्हें मार या खा नहीं सकता?

यथा कुम्भकर्णद्वारा कपिदलको व्याकुल सुनकर '***धाई रजनीचर धारी***' तथा रिपुदलका नाश और कुम्भकर्णको व्याकुल देख '***भालु कपि धाए।***' वे सुनकर आये थे, क्योंकि साथ न थे। ये इतने डरे थे कि सुनकर लौटनेवाले न थे, देखा तब लौटे।

दो०—महानाद करि गर्जा† कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव सपथ करै दससीस॥ ६८॥

अर्थ—(और) बड़ा घोर शब्द करके गर्जा, और करोड़ों-करोड़ों वानरोंको पकड़-पकड़कर पृथ्वीपर गजराजकी तरह पटकने लगा और रावणकी दोहाई देने लगा॥ ६८॥

☞ '***गजराज इव***'। इससे जनाया कि यहाँ महानाद भी गजराजके नादके समान है। देखिये, पहले 'वज्राघात समान' नाद करना कहा, दूसरी बार '***मृगनायक नाद***' कहा और यहाँ '***गजराज इव***' कहा। इस प्रकार दिखाया कि उसका बल घटता जाता है। सिंहसे अब गजराज हो गया, 'मर्दन करनेवाले' से अब 'मर्दन किया जानेवाला' हो गया।—विशेष ७० (७-८) में देखिये। दससीसकी शपथ करनेसे स्वामिभक्ति दिखायी। शपथ कि अब मुझसे न बचेंगे। [यहाँ पूर्णोपमा है पर उदाहरणका भाव झलकता है।—(वीर)]

वि० त्रि०—अब कुम्भकर्ण बंदरोंको खाता नहीं, देख लिया कि मुखमें डालते ही ये नाक-कानके रास्तेसे निकल भागते हैं, मरते नहीं। अतः उनके मारनेका यह रास्ता ठीक नहीं, उन्हें उठाकर पृथ्वीपर पटकना चाहिये, जिससे ये मर जायँ। गजराज जिसे पटकता है, उसे घुमाकर पटकता है, अतः उसके पटकनेसे कोई बच नहीं सकता। इसी भाँति कुम्भकर्ण भी बन्दरोंको घुमा-घुमाकर पटकने लगा और रावणकी शपथ करता था कि तुम लोगोंमेंसे किसीको जीता न छोड़ूँगा।

---

* भट—(का०)। चलि—(को० रा०)।

† गर्जत धाएउ बेग अति—का०। को० रा०।

भागे भालु बलीमुख जूथा। बृक बिलोकि जिमि मेष बरूथा॥ १॥
चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी॥ २॥

शब्दार्थ—**बृक**=भेड़िया, हुँडार। **मेष**=भेड़।

अर्थ—भालू और वानरोंके यूथ ऐसे भगे जैसे भेड़ोंका झुण्ड भेड़ियोंको देखकर भागता है॥ १॥ हे पार्वती! (तब) रीछ-वानर व्याकुल होकर आर्त वाणीसे पुकारते हुए भाग चले*॥ २॥

☞मिलान कीजिये—'**तं दृष्ट्वा जीविताशं गिरिवरकुहरं त्रस्तचित्ताः कपीन्द्राः केचित्पादान्तवातप्रचलित-पवनान्दोलिताः खे चरन्ति। केचिद्दोर्दण्डचण्डभ्रमणनिपतिताः शोणितान्युद्गिरन्ति प्राणान्केचित्प्रवीराः कथमपि दधति स्फीतफूत्कारभिन्नाः॥**' (हनु० ११। २७) अर्थात् उसको देखकर भयभीत वानर जीनेकी आशा देनेवाले गुहाओंमें प्रवेश करते हैं। कोई उसके चरण रखनेके पवनसे कम्पायमान होकर आकाशमें फिरते हैं, कोई वानर प्रचण्ड भुजदण्डके आघातसे गिरते हुए रुधिर उगलते हैं और लम्बी-लम्बी श्वासोंसे विदीर्ण होते हुए कोई-कोई वानर बड़ी कठिनतासे प्राणोंको धारण करनेमें समर्थ होते हैं।

नोट—१—वानर-भालुके यूथ-के-यूथ एक साथ भागे, इसीसे '***मेष बरूथ***' की उपमा दी। नोट—२ '***बिकल पुकारत आरत बानी।***' आर्तवाणी आगे स्वयं कवि दे रहे हैं।

यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपिकुलदेस परन अब चहई॥ ३॥
कृपा बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारतिहारी॥ ४॥

अर्थ—(वे आर्तस्वरसे कह रहे हैं कि) यह निशिचर अकालके समान है जो वानरकुल रूपी देशमें अब पड़ना चाहता है॥ ३॥ हे कृपारूपी मेघ! हे खर एवं खलोंके शत्रु श्रीरामचन्द्रजी! हे शरणागतके दुःखके हरनेवाले! हमारी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥ ४॥

नोट—१ **दुकाल**=दुर्भिक्ष, अकाल, यथा—'***परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गयउँ बिदेस।***' (उ० १०४) '***कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥***' (उ० १०१) कुम्भकर्णको अकाल कहा। अकाल किसी देशपर पड़ता है अतः '***कपिकुल***' देश कहा। अकालसे बहुत मरते हैं, इस निशिचरद्वारा वानरवंश ही मरेगा।

मिलान कीजिये '**ते भक्ष्यमाणा हरयो रामं जग्मुस्तदा गतिम्। कुम्भकर्णो भृशं क्रुद्धः कपीन्खादन्प्रधावति॥**' (वाल्मी० ६७। ९७) अर्थात् कुम्भकर्णसे खाये जानेके भयसे वे वानर उस समय श्रीरामचन्द्रजीकी शरण जा पुकारे कि कुम्भकर्ण अत्यन्त क्रोधित होकर सब वानरोंको खाये डालता है।

शीला—**दुकाल**=दो काल। भाव कि एक काल पड़नेसे सब प्राणी नहीं मरते और दो काल पड़नेसे कोई नहीं बचता; सो यह एक लड़ाई तो कर चुका अब फिर आया है इससे अब कोई वानर न बचेगा।—[पर 'दुकाल'—पद 'दुष्काल, दुर्भिक्ष, अकाल' अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, यथा—'***कलि नाम कामतरु राम को। दलनहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घन घाम को॥***' (विनय०), '***कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥***' (उ० १०१) इसी तरह मा० म० ने दुकालके भाव ये लिखे हैं—कुम्भकर्ण दूसरा काल है। वा, मेघनाद और कुम्भकर्ण दोनों दुकालसम हैं। वा, कुम्भकर्ण और काल दोनों सम हैं।]

नोट—२ '***कृपा बारिधर राम खरारी।......***' इति। (क) जलधर जल बरसाकर अन्न उपजाते हैं जिससे अकाल दूर होनेसे लोगोंका जीवन होता है, यथा—'***होई जलद जग जीवन दाता।***' (१। ७। १२) भाव कि हम अकालसे मर रहे हैं। आप कृपाजल बरसकर हमें जिलाइये। पुनः, भाव कि आप कृपाजलधर हैं, सदा कृपा करते आये हैं, अब भी कीजिये।

यथा—(१) '***कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरन बना एहि लेखें॥***'

* १—यहाँ वानर भालुओंका मिथ्याभय भावाभास है, कुम्भकर्णके कोपरूपी अङ्गसे उत्पन्न हुआ है। वह ऊर्जस्वित अलङ्कार है और उदाहरणकी संसृष्टि है।

.......*कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भये प्रबल रन रहहिं न रोके॥*' (५१। ५, ८) तक।

(२)'*देखि निबिड़ तम दसहु दिसि कपिदल भयउ खभार। एकहि एक न देखहिं जहँ-तहँ करहिं पुकार॥*' (४५)

पुनि कृपालु हँसि चाप चढ़ावा। पावक सायक सपदि चलावा॥.......

भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरषि बिगत श्रम त्रासा॥'

(३) '*बालि त्रास ब्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥*

सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपालु रघुबीर सुभाऊ॥' (४। १२)

(४) **मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥**

.......**कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥**' (कि० ८। ४, ६)

(ख)—'***खरारी***' का भाव कि (क) जो अजर-अमर होनेका वर पाये हुए थे और जो बड़े मायावी थे उनको आपने कौतुक-सरीखा मारा, तब यह निशाचर क्या है? (ख) रा० प्र०—यह राक्षस खर (तीक्ष्ण) आँचसे हमें जलाये डालता है।

मा० म०—'***कृपा बारिधर***.......।' का भाव कि वानरसेना मानो तृणसमूह है और कुम्भकर्णका कोप अग्नि है। इस अग्निसे वानरोंको जलते देख श्रीरामचन्द्रजीने करुणाजल वर्षाकर शीतल कर दिया मानो कपियोंका नया जन्म हुआ।

नोट—३ '***पाहि पाहि प्रनतारतिहारी।***' आप शरणागतके दु:खको हरते हैं। सुग्रीव और विभीषण शरणमें आये तो उनके दु:ख दूरकर आपने उन्हें राजा बना दिया। बालिको मारा, रावणके मारनेकी प्रतिज्ञा विभीषणका तिलक करनेसे मानो पूरी ही हो चुकी। हम शरण हैं, हमारे दु:ख दूर कीजिये। '***पाहि पाहि***' में दु:खकी वीप्सा है।

वीरकवि—यहाँ उपमा और रूपककी संसृष्टि है। वीरका करुणरस अङ्ग होनेसे 'रसवत अलंकार' है। साभिप्राय विशेषणोंसे परिकराङ्कुरकी ध्वनि है।

सकरुन बचन सुनत भगवाना। चले सुधारि सरासन बाना॥ ५॥
राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महाबलसाली॥ ६॥

अर्थ—करुणाभरे वचनोंको सुनते ही धनुष (एवं धनुषपर) बाण सुधारकर भगवान् चले॥ ५॥ महाबलवान् श्रीरामचन्द्रजीने सेनाको अपने पीछे किया और क्रोधसहित चले (आगे बढ़े)॥*६॥

नोट—१ '***सकरुन बचन***.......' इति। ऊपर '***बिकल पुकारत आरत बानी***' कहा और यहाँ '***सकरुन बचन।***' अत: 'आर्त्तवाणी'='सकरुन बचन।' दोनों पदोंके बीचमें 'आर्त्तवचन' हैं।

बं० पा०—(क) 'भगवान्' का भाव कि यह दुकाल ऐश्वर्यबाणसे ही मिटेगा। वानर-सेना जबतक प्रबल रही तबतक आगे रही, जब वह आर्त्त हो करुणवचन बोली, तब उसको पीछे कर श्रीरामजी स्वयं आगे हुए, प्रणतकी रक्षा करनेवाले ढाल बने। (ख)—'***महाबलसाली***' का यहाँ भाव यह है कि महाबल कुम्भकर्णके शालक हैं—'***खलशालक बालक।***'

नोट—२ (क) वानरोंने कृपावारिवर और प्रणतहारी कहकर रक्षा चाही, अत: उन्होंने कृपा की, दु:ख हरा। '***सेन निज पाछे घाली***' यह कृपा और प्रणतपालकता है। यथा—'***आवत देखि सक्ति खरधारा। प्रनतारति हर बिरद सँभारा॥ (आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥) तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला।***' (९३। १-२) (ख) '**चले** ' दो बार आया है। एक स्थानसे चलनेका बोधक है, दूसरा सेनाके आगे बढ़नेका। यहाँ यमक अलङ्कार है।

---

* 'स चापमादाय भुजङ्गकल्पं दृढज्यमुग्रं तपनीयचित्रम्।
हरीन्समाश्वास्य समुत्पपात रामो निबद्धोत्तमतूणबाण:॥' (वाल्मी० ६७। १३५)

अर्थात् उत्तम तूण और बाण धारण करके रामचन्द्रजी सर्पसदृश, बड़ी मजबूत प्रत्यञ्चावाले, उग्र, भयंकर, तेजस्वी और चित्रित धनुषको लेकर वानरोंको आश्वासन देते हुए उठ खड़े हुए।

☞ जब प्रभुका स्मरण करके चले (यथा *'जय जय जय रघुबंसमनि धाए कपि दै हूह॥'* (६५) तब प्रभुने रक्षा की, रिपुपर कोप न किया। इस बार जब 'आर्त्त' हो पुकारे तब *'चले सकोप महाबलसाली।'*

☞ जब-जब आर्त्तपुकार होती है या अपने सामने आश्रितपर आघात देखते हैं तब प्रभु कोपको प्राप्त हो तुरंत कृपा करते हैं, यथा—

१ **'सभय देव करुनानिधि जानेउ।'''तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा।'** (७०।१—४)

२ **'तब सत बान सारथी मारेसि। पर्‍यो भूमि जय राम पुकारेसि॥ राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहुँ पावा॥'** (९०।७-८) **'भए क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।'**

३ **'तब रावन दस सूल चलावा। बाजि चारि महि मारि गिरावा।'**
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छाँड़े सायक।' (९१।५-६)

४ **'हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा।'** (९२।५)

५ **'अब जनि राम खेलावहु एही। अतिसय दुखित होति बैदेही॥''''''''''**
रघुपति कोपि बान झरि लाई'—(देवताओं और सीताजीकी विपत्ति सुनकर)

६ तथा यहाँ **'सकरुन बचन सुनत भगवाना। चले सकोप महाबलसाली।'**

इससे कृपा, करुणा, शरणपालकता, आर्तदुःखहर्ता आदि गुण दिखाये।

☞ *'राम सेन निज पाछे घाली।''''''''''* इति। इस प्रसंगमें यह दिखाया है कि जबतक मनुष्यको अपने पुरुषार्थका बल-भरोसा रहता है तबतक प्रभु उनकी रक्षा नहीं करते, जब उनके भरोसेपर रहता है तब वे स्वयं सहायक होते हैं।

युद्धमें प्रथम कुम्भकर्णको आते सुना तब वानर अपने बलपर दौड़े—*'एतना सुना कपिन्ह जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥'* (६४। ३), *'तब अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव॥'* (६४) फिर भी प्रभु रक्षाको न आये।

कुम्भकर्णके लौटनेपर वानर दूसरी बार प्रभुका स्मरण करके उनका जय-जयकार करते चले—*'जय जय जय रघुबंसमनि धाये कपि दै हूह॥'* (६५) तब प्रभुने स्वयं देखकर रक्षा की। यथा—*'कुंभकरन कपि फौज बिडारी। सुनि धाई रजनीचरधारी॥ देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई॥ सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सैन। मैं देखौं खल बल दलहि बोले राजिवनैन॥'* (६६)

तीसरी बार कुम्भकर्णके व्याकुल होनेपर वानरयूथ अपने बलपर धाये—*'बिकल बिलोकि भालु कपि धाए'* तब उसने सबको पटका—*'महि पटकइ गजराज इव॥'* (६८) पर प्रभु देखते रहे, रक्षा न की। जब अपने पुरुषार्थका भरोसा छोड़े वे प्रभुकी शरण गये—*'पाहि पाहि प्रनतारतिहारी',* तब प्रभुने तुरंत रक्षा की, सेनाको पीछे कर लिया, स्वयं आगे हुए—*'राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप॥'* (६९। ६)

खैंचि धनुष सर* सत संधाने। छूटे तीर सरीर समाने॥ ७ ॥
लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा॥ ८ ॥
लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी। रघुकुलतिलक भुजा सोइ काटी॥ ९ ॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी। प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी॥ १०॥

शब्दार्थ—उपाटना (**उत्पाटन**)=उखाड़ना। पारना=डालना, गिराना। कुधर=पृथ्वीको धारण करनेवाले, पर्वत।

अर्थ—श्रीरामजीने धनुष खींचकर उसपर सौ बाण संधान किये। तीर छूटकर उसके शरीरमें समा गये॥ ७॥ बाणोंके लगते ही वह क्रोधभरा दौड़ा। उसके दौड़नेसे पर्वत डगमगाने और पृथ्वी हिलने लगी॥ ८॥ उसने एक पर्वत उखाड़ लिया। रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीने उसकी वह भुजा काट डाली॥ ९॥ (तब वह) बायें हाथमें पर्वत लेकर दौड़ा। प्रभुने वह भुजा भी काटकर पृथ्वीपर गिरा दी॥ १०॥

* सत सर—(का०)।

नोट—१ वाल्मी० ६७। १५५ में वायव्यास्त्रसे और अ० रा० ८। २२ में ऐन्द्रबाणसे काटना लिखा है, अतः गोस्वामीजीने कोई नाम न दिया।

बं० पा०—जिस अङ्गसे अपराध किया उसीको दंड दिया, अतः रघुकुलतिलक कहा।

प० प० प्र०—*'लागत सर धावा·······'* इति। दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम रखनेमें भाव यह है कि जो कपिसेना श्रीरामजीके पीछे थी वह कुम्भकर्णके रौद्ररूपको देखकर घबड़ा गयी, उसका मन चिन्ताने व्यथित किया। यह प्रथमार्धसे सूचित है। द्वितीयार्धसे आश्चर्यके अनुभाव सभी देखनेवालोंमें उत्पन्न हुए यह बताया है। ☞ छन्दभेदोंके जाननेवाले छन्दभेदके लक्षणोंद्वारा समाधान करनेका प्रयास करें तो सम्भवतः विशेष उत्तम और सुसंगत भाव निकलेंगे। (मा० सं०)।

काटे भुजा सोह खल कैसा। पक्षहीन मंदर गिरि जैसा॥ ११॥

उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहु त्रैलोका॥ १२॥

अर्थ—भुजाओंके काटे जानेपर वह दुष्ट कैसा शोभित है जैसे पक्षहीन होनेपर मंदर पर्वत शोभित हो॥ ११॥ उसने बड़ी रौद्र दृष्टिसे प्रभुको देखा, मानो वह त्रैलोक्यको ग्रसना चाहता है॥ १२॥

नोट—१ जब पर्वतोंके पक्ष थे तब वे उड़ा करते थे, जिससे सृष्टिमें विघ्न और उत्पातका भय रहता था। इन्द्रने पक्ष काट डाले तबसे वे अचल हो गये, हानि पहुँचानेकी सामर्थ्य न रही। अतः वे अब शोभित हैं। वैसे ही हाथ कटनेसे इसका पुरुषार्थ न चलेगा। वह सेना (कपिदल) को हानि न पहुँचा सकेगा। मंदर पक्षहीन होनेसे अब भी शोभित है, उसके सम्बन्धसे इसका भी सोहना कहा। नहीं तो भुजा कटनेपर शोभा कैसी? यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

प० प० प्र०—किष्किन्धासे प्रयाणके समय सब वानर भी *'भए पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा।'* जबतक वानर कुम्भकर्णके सामने नहीं आये थे तबतक वे मानो पक्षयुत गिरिन्द्र थे और कुम्भकर्ण हाथ कट जानेसे पक्षहीन मन्दराचलके समान है। यह कहकर जनाया कि कुम्भकर्ण भुजहीन होनेपर भी वानर-भालु-सेनासे अधिक बलवान् था। पक्षहीन मंदर अचल होता है, पर कुम्भकर्ण इस दशामें भी दौड़ता है यह विशेषता है।

पु० रा० कु०—*'उग्र बिलोकनि·······।'* अर्थात् क्रोध-दृष्टिसे अथवा रुद्र-दृष्टिसे—*'उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठः।'* इति (अमरकोष) यथा—*'जब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भएउ जरि छारा॥'* (१। ८७। ६) इसीसे *'ग्रसन चहत मानहु त्रैलोका॥'* यह उत्प्रेक्षा दी। पुनः, उग्र=महातीक्ष्ण, सुरासुरभयदायक। —(रुद्र-दृष्टिसे देखनेका भाव कि दृष्टिमात्रसे समस्त त्रिलोकीका संहार कर डालना चाहता है)। आदिमें जब कुम्भकर्ण लङ्कासे चला तब भक्तिभावसे प्रभुके दर्शनाभिलाषासे चला। वैरभावकी भक्ति है, अतः यहाँ *'उग्र बिलोकनि'* से उसके अभिलाषाकी पूर्ति दिखायी।

नोट—२ भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं। इनको ग्रसना चाहा, इससे त्रैलोक्यको ग्रसना कहा। जब वानरोंको खाता था तब 'विश्व' का ग्रसना कहा। भाव यह कि विश्वके सभी प्राणियोंको वह अलग-अलग बीन-बीनकर खा रहा था, यहाँ तीनों लोकोंको एकदम लील जायगा। यहाँ 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है क्योंकि त्रैलोक्यका ग्रास करना यहाँ असिद्ध आधार है।

दो०—करि* चिक्कार घोर अति धावा बदनु पसारि।

गगन सिद्ध सुर त्रासित हा हा हेति पुकारि॥ ६९॥

अर्थ—अत्यन्त घोर चिक्कार करके वह मुँह फैलाकर दौड़ा। आकाशमें सिद्ध और देवता डरकर 'हा हा हा' यह पुकार करने लगे॥ ६९॥

☞ मिलान कीजिये—'निकृत्तबाहुर्विनिकृत्तपादो विदार्य वक्त्रं वडवामुखाभम्। दुद्राव रामं सहसाभिगर्जन्

* 'करि चिकार अति घोर तर'—का०।

राहुर्यथा चन्द्रमिवान्तरिक्षे॥' (वाल्मी० ६७। १६३) दोनों हाथ-पैर कटे हुए बड़वानलकी तरह मुखको बाये हुए बहुत आतुरतासे वह श्रीरामजीपर दौड़ा, जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसने दौड़े।

नोट—१ ऊपर कुम्भकर्णको 'गजराज' कहा है। गजका गर्जन 'चिक्कार' कहलाता है, यथा—*'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि·······।'* (सुं० ३५) अतः यहाँ *'करि चिक्कार'* पद दिया। २ ☞ *'हा हा हेति'*=हा हा हा इति। अर्थात् सब बड़े कष्टसे हा हा हा करने लगे। इस प्रकारकी सन्धि बहुत आयी है।

यह पाठ का०, रा० गु० द्वि०, छक्कनलालजी, भा० दा० में है। आधुनिक किसी-किसी टीकाकारने जहाँ-तहाँ इसको सुधारकर 'होति' कर लिया है और भी स्थानोंमें जहाँ-तहाँ सन्धि तोड़कर पाठ रखा है। जैसे—*' जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥'* (२३। ४)।', *'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं॥'* (८४ छंद), *'अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा।'* (८५। ९) *'भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुरपद लस्यो॥'* (८५ छंद), *'सगुनोपासक मोक्ष न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥'* (१११। ७) और *'कुंभजादि मुनिनायक नाना। गए रामु सब के अस्थाना॥'* (११९। २)

सभय देव करुनानिधि जान्यौ। श्रवन प्रजंत सरासनु तान्यौ॥ १॥
बिसिख निकर निसिचर मुख भरेऊ। तदपि महाबल भूमि न परेऊ॥ २॥

अर्थ—दयासागर रघुनाथजीने देवताओंको भयभीत जानकर धनुषको कानपर्यन्त ताना॥ १॥ तथा बाणसमूहसे निशिचरका मुख भर दिया। तब भी वह महाबलवान् पृथ्वीपर न गिरा॥ २॥

नोट—१ यहाँ उसका महाबल दिखाया। भगवान्के बाण मारनेपर भी वह न गिरा ऐसा बलवान् है। कारण विद्यमान होते हुए भी कार्यका न होना 'विशेषोक्ति अलङ्कार' है।

सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा। कालत्रोन सजीव जनु आवा॥ ३॥
तब प्रभु कोपि तीब्र सर लीन्हा। धर तें भिन्न तासु सिर कीन्हा॥ ४॥

अर्थ—बाणोंसे मुख भरा हुआ वह प्रभुके आगे इस प्रकार दौड़ा, मानो सजीव कालरूपी तरकश ही आ रहा है॥ ३॥ तब प्रभुने कोप करके तीव्र बाण लिया और उसका सिर धड़से अलग कर दिया॥ ४॥

☞ मिलान कीजिये—**'अपूरयत्तस्य मुखं शिताग्रै रामः शरैर्हेमपिनद्धपुङ्खैः। सम्पूर्णवक्त्रो न शशाक वक्तुं चुकूज कृच्छ्रेण मुमूर्च्छ चापि॥'** (वाल्मी० ६७। १६४) अर्थात् श्रीरामजीने स्वर्णसे बँधे हुए पंखवाले तीक्ष्ण बाणोंसे उसके मुँहको भर दिया। वह बोल न सकता था और बड़ी कठिनाईसे आर्तनाद करके मूर्च्छित हो गया।—(मानसका कुम्भकर्ण मूर्च्छित नहीं हुआ, वरं काल-समान दौड़ा। यह विशेषता है)।

नोट—*'कालत्रोन सजीव'* इति। प्रभुके बाण कालरूप हैं ही, यथा—*'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥'* (६७। ३) इसका मुख बाण-समूहसे भरा हुआ है अतः उसे तरकश कहा, जिसमें काल-बाण भरे हैं। तरकश दौड़ता नहीं, यह दौड़ा आता है, अतः *'सजीव'* अर्थात् प्राणयुक्त कहा।—यह 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है, क्योंकि त्रोणका सजीव होना असिद्ध है।

सो सिर परेउ दसानन आगे। बिकल भएउ जिमि फनि मनि त्यागे॥ ५॥
धरनि धसै धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥ ६॥

अर्थ—वह सिर रावणके आगे गिरा। उसको देख रावण ऐसा व्याकुल हुआ जैसा सर्प मणिके छूट जानेसे* होता है॥ ५॥ उसका प्रचण्ड धड़ बड़े वेगसे दौड़ा, जिससे पृथ्वी धसी† जाती थी, तब प्रभुने काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये॥ ६॥

नोट—कुम्भकर्णका सिर दशाननके सामने पहुँचाया गया और मेघनादका शरीर हनुमान्जी लङ्काद्वारपर

* 'उदाहरण'। † 'धरनि धसै धर धाव' में 'वृत्त्यनुप्रास' अलङ्कार है।

ही रख आये। उसे भी क्यों न रावणके पास पहुँचा दिया? यह भी साभिप्राय है। कुम्भकर्ण रावणका भाई है। श्रीलक्ष्मणजी रामानुज हैं। लक्ष्मण-शक्तिका बदला यहाँ चुकाया गया। भाव यह कि जैसे हमारे भाईको मूर्च्छित कर तुमने हमें रुलाया, वैसे ही अपने छोटे भाईको मृतक देख अब तुम भी रो लो। भाईका बदला भाईसे चुक गया, अतः मेघनादका शव समीप पहुँचानेकी आवश्यकता न रही।

प० प० प्र०—दशाननके आगे गिरानेमें भाव यह है कि—(क) जैसे इतना बड़ा सिर सहज ही उड़ाया गया वैसे ही तेरे दसों सिर उड़ाये जायँगे। ***'अजहूँ चेत अचेत।'*** (ख) तुझको ***'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि'*** (दोहा २७) यह अहंकार था। देख ले कि वह तेरा भाई चल बसा और तेरा पुत्र इन्द्रजित् न तो लक्ष्मणको मार ही सका और न उसे रणभूमिसे (इतना बली होते हुए भी) उठा सका। और इधर देख, कि एक निर्जीव बाणने इतना बड़ा मुंड रणभूमिसे तेरे सामने लाकर रख दिया। इन्द्रजित्के बलपर हठ करनेसे तेरा विनाश ही होगा। अतः अब भी सीताजीको देकर जीवित रह सकता है, **'यथेच्छसि तथा कुरु।'**

पु० रा० कु०—***'धरनि धसै'*** से पैरका बल दिखाया।

परे* भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥ ७॥

तासु तेज प्रभु बदन समाना। सुर मुनि सबहिं† अचंभौ‡ माना॥ ८॥

अर्थ—अपने नीचे वानर, रीछों और निशाचरोंको दबाते हुए वे दोनों टुकड़े पृथ्वीपर ऐसे गिरे जैसे आकाशसे दो पर्वत गिरे हों॥ ७॥ उसका तेज प्रभुके मुखमें समा गया। (यह देखकर) सुर-मुनि सभीने आश्चर्य माना॥ ८॥

पु० रा० कु०—तेज मुखमें समाया, यह सायुज्य मुक्ति हुई। यही आश्चर्य हुआ।

पं०—शिशुपालका सिर कटते ही उसका तेज तत्क्षण ही प्रभुके मुखमें समा गया था§ और कुम्भकर्णमें यह बात न हुई, जब इसके धड़के दो टुकड़े हो गये तब तेज प्रभुके मुखमें समाया। यह भेद क्यों? उत्तर—शिशुपालका सिर कटते ही उसकी चैतन्यता जाती रही। चेतनता न रहनेसे उसका कबंध दौड़ता न था। वह सिर कटते ही मर गया। पर कुम्भकर्णका सिर कटनेपर उसका कबंध रणभूमिमें दौड़ता था, जिससे स्पष्ट है कि वह अभी मरा नहीं था, जब कबंधके दो टुकड़े हुए तब वह निर्जीव हुआ अतएव तभी प्राण निकले।

गौड़जी—मानसकारने उसके तेजका प्रभुके मुखमें समा जाना और प्रभुके मुखके समान होना, दोनों भाव शब्दोंसे प्रकट किये हैं। मुक्तिके प्रकारका निर्देश नहीं किया, क्योंकि कल्पभेदसे सभी कुम्भकर्णों और रावणोंको एक-सी मुक्ति नहीं मिलती। इसके सिवा—***'मुक्त न भये हते भगवाना। तीन जन्म द्विज बचन प्रमाना॥'*** (१। १२३) मुक्त होनेवाले अर्थका बाधक है। यहाँ तो स्पष्ट है कि उसका तेज प्रभुके लीला-विग्रहमें समाया। लीलाकी आवश्यकतापर फिर लौट सकता है।

मा० म०—यह अर्थ कि सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई ठीक नहीं घटित होता; क्योंकि कुम्भकर्ण नित्यधामका सखा है। अतएव अर्थ है कि उसका तेज श्रीरामचन्द्रजीके मुखके समान प्रकाशमान हुआ और श्रीरामचन्द्रने उसको परतमरूप प्रदान कर अपना साकेतधाम दिया।

---

* यह चौपाई १७०४ वाली प्रतिमें नहीं है। पं० रा० गु० द्वि० में है। † सबै (का०)। ‡ अचंभव (भा० दा०)।

§ 'तावदुत्थाय भगवान्स्वान् निवार्य स्वयं रुषा। शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः॥ (शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान्। तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः॥ चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्। पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥ जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया। ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥' (भा० १०। ७४। ४३—४६) अर्थात् तबतक भगवान्ने उठकर क्रोधसे रिपु शिशुपालके सिरको तीक्ष्ण चक्रसे काट दिया। सब प्राणियोंके देखते-देखते उसके शरीरसे निकला हुआ तेज भगवान् वासुदेवमें प्रवेश कर गया। जैसे आकाशसे गिरा उल्का पृथ्वीमें प्रवेश कर जाता है। तीन जन्मके वैरवाली बुद्धिसे ध्यान करता हुआ वह तन्मय हो गया था। भावना ही भवका कारण है।

बं० पा०—तेज (=जीवात्मा) शरीरसे निकलकर श्रीरामजीके मुखमें समा गया। आगे धाम देना लिखेंगे, क्योंकि यह प्रतापी सखा है, इसकी 'लय' मुक्ति नहीं हो सकती। मुखमें समाया तो दुग्ध-जलवत् नहीं वरन् तिल-तण्डुलवत्। वह अर्चिरादि मार्ग होकर नहीं गया, किन्तु भगवत्-स्वरूपद्वारा धामको गया और वहाँ जाकर निकलकर पृथक् हो गया।

नं० प०—कुम्भकर्णका तेज उसको श्रीरामजीसे मिला था, वह तेज फिर श्रीरामजीमें चला गया। यथा—**'तेजस्तेजस्विनामहम्'** इति गीतायाम्।

वि० त्रि०—*'तासु तेज''''''''''अचंभौ माना'* इति। *'सुर मुनि सबहि अचंभौ माना'* से स्पष्ट है कि जिस कुम्भकर्णका तेज प्रभुके मुखमें समा गया उसकी सायुज्य मुक्ति हुई, नहीं तो धाम न जाने कितने राक्षसोंको मिला, यथा—*'कहहिं बिभीषन तिन्ह के नामा। देहिं राम तिन्ह कहँ निज धामा॥'* कुम्भकर्णके धाम मिलनेसे सुर-मुनि आदिको आश्चर्य होनेकी कोई बात न थी। न जाने कितने रावण हुए; उनमेंसे कोई नित्यधामका सखा रहा होगा। पर उसकी चर्चा मानसमें नहीं है। जिन चार कल्पोंकी कथा रामचरितमानसमें है, उनमेंके रावण-कुम्भकर्णोंमेंसे सबकी समान गति नहीं हुई। किसीकी सायुज्य मुक्ति हुई (यथा—*'होइहौ मुकुत न पुनि संसारा'*)। किसीकी मुक्ति नहीं हुई (यथा—*'मुक्त न भये हते भगवाना'*)। यहाँ भी दो प्रकारकी मुक्ति कुम्भकर्ण और रावण दोनोंकी कही गयी है। कुम्भकर्णके विषयमें लिखते हैं—(१) *'तासु तेज प्रभु बदन समाना'* और फिर लिखते हैं (२) *'निसिचर अधम मलायतन ताहि दीन्ह निज धाम।'* इसी भाँति रावणके विषयमें लिखते हैं। (१) *'तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥'* (२) फिर लिखते हैं *'तिन्हहु दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्मनिरामयम्'* इससे स्पष्ट है कि चारों कल्पोंकी रामकथाओंमें साम्य है, जहाँ भेद पड़ता है, वहाँ श्रीगोस्वामीजी दिखला देते हैं। चारों कल्पोंके रावणोंकी गतिमें भेद पड़ा। किसीकी सायुज्य मुक्ति हुई; उसका तेज प्रभुके मुखमें समा गया। (तिल-तण्डुलका उदाहरण ठीक नहीं, न तिल तण्डुलमें समा सकता है और न तण्डुल तिलमें समा सकता है) और जिसका नहीं समाया उसे धाम मिला। यहाँ *'समाना'* का अर्थ प्रभुके 'मुखके समान' करना तो अपनी बुद्धिकी अलौकिकताका परिचय देना है। अतः सायुज्य मुक्ति अर्थ करना ही ठीक है।

वे भू०—यहाँ तो कुम्भकर्णका और आगे रावणका तेज प्रभुके मुखमें प्रवेश कर गया, वह क्या था? वह जीवात्मा ही था या अन्य कुछ? क्योंकि अणुरूप जीव दृष्टिगोचर नहीं हो सकता और यह तेज दिखायी पड़ा।

उत्तर—स्वयं साक्षात् भगवान्‌ने ही अपने परमभक्त एवं सखा श्रीअर्जुनजीको समझाते हुए जब किंचिन्मात्र अपनी दिव्यविभूतिका दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया तो उसके अन्तमें कह दिया कि **'एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥'** (गीता १०। ४०) ऐसा कहनेके बाद तत्त्व बतलाया कि—**'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥'** (गीता १०। ४१) अर्थात् लोकमें जो कोई भी प्राणी प्रतापी, ऐश्वर्यशाली, लक्ष्मी-कान्तिमान्, पराक्रमी अथवा किसी प्रकारकी भी विशेषता-सम्पन्न होता है उस प्राणीमें वह प्रताप, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, कान्ति और पराक्रम आदि सारी ही विशेषताएँ मेरे अंशसे उत्पन्न समझो, अर्थात् वे सारी विशेषताएँ मेरी कलाएँ हैं। यहाँ भगवान्‌के **'विद्धि'** कहनेका यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि जबतक मैं चाहूँगा तभीतक जीवविशेषमें ये सारी शक्तियाँ रहकर पुनः मेरी वस्तुएँ मेरे पास चली आयेंगी। और मोक्ष हो जानेपर तो इन (एकपाद्विभूतिस्थ) भोग्य वस्तुओंकी जीवको कोई आवश्यकता ही न रह जायगी—वहाँ तो सभी दिव्यैश्वर्य स्वाभाविक हो जाते हैं। अतः वे वस्तुएँ (तेज, प्रताप, बल आदि) पुनः प्रभुमें ही अन्तर्हित हो जाती हैं।

रावण और कुम्भकर्णके भौतिक स्थूलदेहमें रहनेवाला जो कई प्रकारका विशेष-विशेष तेज था वह सब (बल, पराक्रम, कान्ति, ऐश्वर्यादि) प्रभुके अंशसे था। यथा—*'जाके बल लवलेस तें जितेउ चराचर झारि।'* इसीसे वह प्रभुके मुखमें समा गया जिसे प्रत्यक्ष रूपसे देवता एवं मुनियोंने (जो वहाँ उपस्थित थे) देखा कि जो तेज जहाँसे प्रादुर्भूत हुआ था वह वहीं अन्तर्हित—लीन हो गया और रावण, कुम्भकर्ण

नामसे अभिहित जीवात्मा दिव्यभगवल्लोकको प्राप्त हुए। ऐसा वहींपर देवताओं एवं मन्दोदरीके कथनसे स्पष्ट है। यथा—*'अधम सिरोमनि तव पद पावा। यह हमरे मन बिसमय आवा॥'* इत्यादि।

सि० ति०—तेजस् अग्निका नाम है। यहाँ अग्निलपटके समान उसके तेज-प्रताप आदिसे तात्पर्य है। यह श्रीरामजीके तेजके अंशसे था। यथा—'**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥**' (गीता १०। ४१) अतः उसका तेज अपने परम कारण श्रीरामजीके मुखमें प्रवेश कर गया, अग्निका परम कारण श्रीरामजीका मुख है। यथा—'**मुखादग्निरजायत**' (पुरुषसूक्त)।

जीवात्मा तेजसे भिन्न वस्तु हैं, वह अणु है। अतः वह किसीकी भी दृष्टिका विषय नहीं हो सकता। बालाग्रके सौ भाग करे, फिर इस एक-एकके भी करे, वैसा सूक्ष्म जीवका स्वरूप है। यथा—'**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।**' (मु० ३। ९), '**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥**' (श्वे० ५। ९। ४) इसका अनुभव ज्ञानदृष्टिसे होता है। यथा—'**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥**' (गीता २। २९) और यहाँ तो *'सुर मुनि सबहिं अचंभव माना।'* कहा गया है। ऐसा ही रावण तथा शिशुपाल और परशुरामके प्रसङ्गोंमें भी कहा गया है। '**ज्याघोषमकरोद् वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखेऽविशत्॥**' (नृ० पु०) अर्थात् सब देवताओंके देखते हुए परशुरामका वैष्णव तेज उनकी देहसे निकलकर श्रीरामजीके मुखमें समा गया। तीनोंमें लोगोंका देखना कहा गया है। ('**हरषे देखि संभु चतुरानन**', '**पश्यतां सर्वभूतानाम्**', '**पश्यतां सर्वदेवानाम्**')। तब यह तेज जीवात्मा नहीं हो सकता। पुनः यह भी परशुरामप्रसङ्गसे स्पष्ट है कि जब उनका तेज श्रीरामजीके मुखमें चला गया तब भी परशुरामजी जीते-जागते रहे। तब तो उक्त तेजको जीवसे भिन्न ही मानना होगा।

'तब सुर-मुनिको आश्चर्य क्यों हुआ?' इसका उत्तर यह है कि औरोंका तेज प्राकृत तेजमें ही मिलता है पर इसका तेज परम कारणरूप रामजीके मुखमें मिला, अतः जीवात्मा भी अपने परम कारणके धामको निस्सन्देह प्राप्त हुआ। यथा—*'ताहि दीन्ह निज धाम।'* श्रीरामबाणसे शुद्ध होकर उसका जीवात्मा अर्चिरादि मार्गसे परम गति साकेत धामको गया।

'मुक्त जीवोंकी परमधाम-यात्रा अर्चिरादि मार्गसे होती है। वह आँखसे नहीं देखी जाती, शास्त्रद्वारा जानी जाती है। इसे भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने निर्णय करके लिखा है। यथा—'**ततश्चायं क्रमः सम्पन्नः नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युताद्वारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां (प्राप्य) तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति (प्राप्नोतीति)॥**' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य ४। ३। ३); अर्थात् इससे यह क्रम सिद्ध हुआ कि नाडीरश्मिके प्रवेशके अनन्तर (१) अर्चिष=अग्निलोकमें जीव जाता है, वहाँसे (२) दिनमें, वहाँसे (३) शुक्लपक्षमें, वहाँसे (४) उत्तरायण मासोंमें, वहाँसे (५) संवत्सरमें, वहाँसे (६) वायुमें, वहाँसे (७) आदित्यमें, वहाँसे (८) चन्द्रमामें, वहाँसे (९) वैद्युतमें, वहाँसे (१०) वरुणामें, वहाँसे (११) इन्द्रलोकमें, वहाँसे (१२) ब्रह्माजीके लोकमें पहुँचकर उसके पश्चात् विरजानदीमें (स्नान करके सूक्ष्म शरीर छोड़ दिव्य देह प्राप्तकर दिव्यालङ्कारोंसे अलङ्कृत हो) श्रीसाकेतलोकको प्राप्त होता है।'

'अर्चिरादि शब्द अर्चिरादि अभिमानी देवताओंके अर्थको कहते हैं। यथा—'**अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानि-देवतापरत्वमिति प्रागेवाभिहितम्।**' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य ४। ३। ४)

विद्युल्लोकसे आये हुए देवके साथ ही ज्ञानी ब्रह्मलोकपर्यन्त जाता है। यथा—'**वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेनामानवे-नैवातिवाहिकेन विद्युत उपरिष्टाद्ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्गमनम्।**' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य ४। ३। ५) अर्थात् अर्चि. आदि अपने लोकपर्यन्त ही रहते हैं। विद्युल्लोकका देवता ब्रह्मप्राप्तितक जीवके साथ जाता है। उसके आगेके वरुण और इन्द्र भी अपनी-अपनी सीमासे लौट आते हैं। अपने लोकसे प्राप्त होकर ब्रह्माजी वैद्युतके साथ अन्ततक जाते हैं।'

'यहाँ तेजमात्रका मुखमें प्रवेश करना स्पष्ट कहा गया है, जीवात्माकी मुक्ति उपर्युक्त शास्त्रप्रमाण एवं अनुमानसे जानी गयी, स्पष्ट नहीं कही गयी, क्योंकि चार कल्पोंकी कथा एक साथ चल रही है। उनमें जय-विजयके कल्पवाले कुम्भकर्णकी मुक्ति अभी नहीं हुई, अगले जन्ममें होगी।'

नोट—दोहा ७० *'दीन्ह निज धाम'* भी देखिये।

नोट—१ इस (कुम्भकर्णयुद्ध) प्रकरणमें लक्ष्मणजीका एक बार भी कुम्भकर्णसे युद्ध नहीं दिखाया गया। रावण और मेघनाद दोनोंके युद्धमें लक्ष्मणजी भी शामिल रहे और मेघनाद-युद्धमें तो वे ही अग्रसर वा प्रधान थे। वाल्मीकीयमें वानरोंके शरण पुकारनेपर लक्ष्मणजी ही प्रथम कुम्भकर्णसे लड़ने आये और उसके कवचादि तोड़ डाले तब उसने लक्ष्मणजीसे कहा—

'प्रगृहीतायुधस्येह मृत्योरिव महामृधे। तिष्ठन्नप्यग्रतः पूज्यः किमु युद्धप्रदायकः॥
ऐरावतं समारूढो वृतः सर्वामरैः प्रभुः। नैव शक्रोऽपि समरे स्थितपूर्वः कदाचन॥
अद्य त्वयाहं सौमित्रे बालेनापि पराक्रमैः। तोषितो गन्तुमिच्छामि त्वामनुज्ञाप्य राघवम्॥
यत्तु वीर्यं बलोत्साहैस्तोषितोऽहं रणे त्वया। राममेवैकमिच्छामि हन्तुं यस्मिन् हते हतम्॥
रामे मयात्र निहते येऽन्ये स्थास्यन्ति संयुगे। तानहं योधयिष्यामि स्वबलेन प्रमाथिना॥'

(वाल्मी०६७। १०९—११३)

अर्थात् बड़े भयङ्कर युद्धमें आयुध लिये साक्षात् मृत्युके सदृश मेरे सामने स्थित होनेपर तुम पूज्य हो, बड़ाईके योग्य हो, युद्धकी आवश्यकता नहीं। देखो, ऐरावतपर सवार सब देवताओंसहित इन्द्र भी समरमें कभी हमारे सामने नहीं स्थित हो सके। बालक होनेपर भी तुम्हारे पराक्रमसे हम सन्तुष्ट हो गये। तुम्हारी आज्ञासे रामके पास मैं जानेकी इच्छा करता हूँ। कारण कि हम तुम्हारे बलसे सन्तुष्ट हो गये। हम केवल रामको ही मारना चाहते हैं, जिनके मारे जानेपर सभी मरे हुए-से हैं। हमसे रामजीके मारे जानेपर जितने वानर यहाँ रह जायँगे उनको हम अपने बलसे मन्थन करेंगे।

इसका उत्तर लक्ष्मणजीने हँसकर दिया—'**इत्युक्तवाक्यं तद्रक्षः प्रोवाच स्तुतिसंहितम्। मृधे घोरतरं वाक्यं सौमित्रिः प्रहसन्निव। यस्त्वं शक्रादिभिर्देवैरसह्यः प्राप्य पौरुषम्॥ तत्सत्यं नान्यथा वीर दृष्टस्तेऽद्य पराक्रमः। एष दाशरथी रामस्तिष्ठस्यद्रिरिवाचलः॥**' (६। ६७। ११४—११६) अर्थात् हे वीर! इन्द्रादि देवताओंसे भी असह्य पराक्रम प्राप्त करना तुम्हारा सत्य है, झूठा नहीं, वह पराक्रम तुम्हारा हमने आज देखा। देखो, पर्वतकी तरह ये दाशरथी रामजी स्थित हैं।

यह सुनकर वह रामजीके पास गया। युद्ध इसीसे न हुआ। हनु० और अ० रा० में भी युद्ध नहीं है।

कुम्भकर्ण-युद्धकी कुछ आवृत्तियाँ

☞ पहले क्रोधरहित, फिर *'काल जनु क्रुद्धा'* तत्पश्चात् 'अतिक्रुद्ध'। प्रथम क्रोधरहितदशामें शरीरके बलसे काम लिया। घूँसा और हाथ-पैरसे ही सबको मारकर अचेत किया। मुखियोंको ही पछाड़ा, छोटोंसे न बोला—*'अंगदादि कपि मूर्छित करि समेत सुग्रीव।''''''॥'* (६४) दूसरी बात नाक-कान कटनेकी ग्लानिसे *'काल जनु क्रुद्धा'*, छोटे-बड़े सबको पकड़कर खाया। काल छोटे-बड़ेका विचार नहीं करता। कालका क्रोध प्रलयमें होता है तब सबका नाश करता है। यहाँ *'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई।'* अबकी हाथ-पैरके अतिरिक्त मुखसे भी काम लिया। तीसरी बार 'अति क्रुद्ध' हुआ तब पहिले सिंहनाद करके पर्वत उखाड़कर चलाये—*'कोटि महीधर लेइ उपारी। डारइ जहँ मर्कट भट भारी॥'* (६८। ३) 'फिर महानाद करके गर्जा और करोड़ों-करोड़ों वानरोंको पटकने और रावणकी दुहाई देने लगा॥ ६८॥ (१-२) देखो। इति प्रथमावृत्तिः।

२—जबतक सेनासे युद्ध करता रहा तबतक क्रोधका स्वरूप यह था—*'बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा'*, *'कोपि महीधर लेइ उपारी। डारइ जहँ मर्कट भट भारी'*, *'कोटि कोटि गहि कीस। महि पटकै गजराज इव सपथ करै दससीस॥'* उसका धावना नहीं कहा गया। जब श्रीरामजीसे युद्ध हुआ और बहुत बाण

लगे तब रिसका स्वरूप यह था कि धरती हिलने लगी—*'लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा'* वह अब धावता भी है। *'धावा बामबाहु गिरि धारी।', 'उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहु त्रैलोका॥', 'करि चिक्कार घोर अति धावा बदन पसारि। गगन सिद्ध सुर त्रासित हा हा हेति पुकारि॥'* सुर-सिद्धतक अब डर गये। इससे ज्ञात हुआ कि वह सेनाको कुछ समझता ही न था और सत्य ही ऐसा कर दिखाया। यह पुरुषार्थ रावणमें भी न था। इति द्वितीयावृत्तिः।

३—(क) वानरी सेनाकी दशा। पहले, युद्धमें जब क्रोध न था तब—*'चली बलीमुख सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई॥'* (६४। १०) दूसरे, युद्धमें क्रोध होनेपर कोई फेरनेपर भी न फिरे—*'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे॥'* (६६। ६) पुनः, (ख) पहलेमें यूथपति मूर्छित हुए, दूसरेमें उन्हें भी खाने लगा। अतः पहलेमें केवल सेना भगी, दूसरेमें यूथपति भी भगे। अति क्रोध होनेपर रीछ-वानर यूथ-के-यूथ भागते हैं और आर्त्त होकर पुकार करते हैं।—*'चले भागि कपि भालु भवानी। 'बिकल पुकारत आरत बानी॥'* इति तृतीयावृत्तिः।

४—(क) पहिलेमें सेना भगी। दूसरेमें सेनापति। तीसरेमें जान पड़ता है कि सेनापति और सेना दोनों भगे; इसीसे पहले दो बार दो-दो चरणमें भागना कहा और अबकी चारमें। (ख) पहिले जो जहाँ पाता है भागता है—*'न कोउ समुहाई।'* दूसरेमें 'सब सुभट' एक साथ फिरे। तीसरेमें रीछ-वानरका कम-से-कम एक-एक यूथ एक-एक साथ भगे और कुछ इधर-उधर भी। यूथप और सेना दोनों भगे।

५—गर्जन। (क)—प्रथम लङ्कासे चला तब 'वज्रपात' के समान गर्जा—*'महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥'* (६३। १) वज्राघातसे लोग सहम जाते हैं, मूर्छित हो जाते हैं, व्याकुल हो आँख-कान बंद कर लेते हैं—*'गाजेउ कपि गाज ज्यों विराज्यो ज्वालजालयुत भाजे धीर बीर अकुलाइ उठ्यो रावनो', 'गाजेउ कपिराज रघुराजकी सपथ करि मूँदे कान जातुधान मानो गाजे गाजके।'* (ख)—दूसरी बार ग्लानिके कारण गर्जा नहीं, पर जब सेना सब मारी गयी तब अति क्रुद्ध होनेसे सिंहनाद किया। सिंहनादसे केवल भय होता है। (ग)—पर्वत चलानेपर जब बाणसे उसे चूर-चूर देखा और अनेक बाणोंसे रामजीने उसे घायल किया और वानर निकट गये तब *'महानाद करि गर्जा।'* विशेष दोहा ६८, ६९ (५-६), ६८ (७-८) देखिये।

सुर* दुंदुभी बजावहिं हरषहिं। अस्तुति करहिं सुमन† बहु बरषहिं॥ ९ ॥
करि बिनती सुर सकल सिधाए। तेही समय देवरिषि आए॥ १०॥

अर्थ—देवता नगाड़े बजाते और प्रसन्न होते हैं। स्तुति करते हैं और बहुत फूल बरसाते हैं॥ ९॥ विनती करके सब देवता चले गये। उसी समय देवर्षि नारद आये॥ १०॥

☞ मिलान कीजिये—**'ततो देवाः सऋषयो गन्धर्वाः पन्नगाः खगाः।'''''''सिद्धा यक्षा गुह्यकाश्च अप्सरोभिश्च राघवम्। ईडिरे कुसुमासारैर्वर्षन्तश्चाभिनन्दिताः॥'** (अ० रा० ८। २९-३०) इन श्लोकोंके **'अभिनन्दिताः' 'ईडिरे', 'कुसुमासारैर्वर्षन्ति'** ही मानसके *'हरषहि', 'अस्तुति करहिं' 'सुमन बहु बरषहिं'* हैं। देवता, ऋषि, गन्धर्व, पन्नग, खग, सिद्ध, यक्ष, गुह्यक और अप्सराएँ ये सब मानसके 'सुर' शब्दसे जना दिये गये। *'दुन्दुभी बजावहिं'* मानसमें अधिक है।

नोट—१ प्रभुकी जय, शत्रुनाश और निजपद-लाभपर एवं सेवा जनानेके लिये हर्ष, पुष्पवर्षादि किये। —(रा० प्र०)। २—*'देवरिषि आए'।* क्योंकि ये कुम्भकर्णके ज्ञानोपदेष्टा हैं—(बं० पा०)। यथा—**'आजगाम तदा रामं द्रष्टुं देवमुनीश्वरः।'** (अ० रा० ८। ३१)

गगनोपरि हरिगुन गन गाए। रुचिर बीररस प्रभु मन भाए॥ ११॥
बेगि हतहु खल कहि मुनि गए। रामु समर महि सोभत भए॥ १२॥

* नभ। † जय जय करि प्रसून बहु—(का०)

अर्थ—उन्होंने आकाशमें ऊपर खड़े हुए भगवान् श्रीरामजीके मनको भानेवाले सुन्दर वीररससे युक्त गुणसमूहका गान किया, जो प्रभुके मनको भाया॥ ११॥ मुनि यह कहकर चले गये कि अब दुष्ट रावणको शीघ्र मारिये। श्रीरामचन्द्रजी रणभूमिमें शोभित हो रहे हैं॥ १२॥

नोट—१ (क) *'गगनोपरि·······'* इति। अ० रा० ८ में नारदजीका उतर आना कहा है।—**'नारदो गगनात्तूर्णं स्वभासा भासयन् दिशः।'** (३१) और वाल्मी० ६७। ७३ में आकाशमें रहना कहा है—**'नभोगताः।'** (ख) नारदजी आकाशमें ही क्यों स्थित रहे? क्योंकि पृथ्वीपर अस्थि, रुधिर और मृतक-शरीर पड़े थे। (पं०)। अथवा, नारद सुर-मण्डलमें थे, अतः वहाँसे गुण गाया, नीचे न आये। वा, रामचन्द्रजीका यश उच्च है, अतः ऊँचेसे ही गाया। अथवा, महाबली शत्रुपर विजय होनेसे देवता निर्भय हो गये, अतः ऊपरसे ही गान किया (मा० म०, पं०)। अथवा, ऊपरसे ही गुण गाये जिसमें सब सुनें।

पु० रा० कु०—*'गगनोपरि·······'* इति। ये गुणगण रुचिर हैं, वीररसके हैं, विजयसम्बन्धी हैं और प्रभु-मन भाये हैं। खलसे यहाँ मेघनादको जनाया—[१ यहाँ पूज्य कविने 'खल' पद देकर रावण और मेघनाद दोनोंको सूचित कर दिया। २ 'हरिगुणगण'। दुःखहरण करनेके सम्बन्धसे 'हरि' पद दिया। इस पदसे जनाया कि यही चरित गाया कि इसके वधसे बड़ा भारी भार उतर गया, इत्यादि।—**'भक्तानां सर्वक्लेशापहारी इति हरिः।'**—प्रभु अर्थात् जो सब कुछ करनेको अत्यन्त समर्थ हैं, यथा—**'सर्वासु क्रियासु सामर्थ्यातिशयात् प्रभुः'**।]

बं० पा०—क्या गुणगान किया? इसीका उत्तर दूसरे चरणमें देते हैं कि 'रुचिरवीररस'। सुन्दर वीररसके चरित गाये। अतएव प्रभु रामजी, जो रुचिरवीररसमें पगे हुए हैं, सुनकर प्रसन्न हुए, इन्होंने सामयिक गान सुनाया। अथवा, दूसरी प्रकार अर्थ यह होगा कि 'रुचिरवीररसमें भरे हुए श्रीरामजी' नारदके मनमें भाये। (नारदजी प्रसन्न हुए—पां०) कि प्रभुने यह श्रम भक्तोंके लिये किया। यह भगवत्-भागवतकी अन्योन्य प्रीति है।

नोट—२ अ० रा० में नारदजीने १५ श्लोकोंमें श्रीरामजीके स्वरूप आदिका ही प्रायः वर्णन किया है (श्लोक ३४ से ४८ तक)। उसके बाद कहा है कि आपने देवहितके लिये यह बड़ा भारी काम किया। कुम्भकर्णके वधसे आज पृथ्वीका बहुत कुछ भार उतर गया। **'कुम्भकर्णवधेनाद्य भूभारोऽयं गतः प्रभो।'** (४९)

नोट—३ *'बेगि हतहु।'* अ० रा० ८। ५० में मुनिने कहा है कि कल मेघनाद और परसों रावणवध होगा। पर ऐसा हुआ नहीं। देवर्षिकी वाणीका असत्य होना गोस्वामीजीको न भाया, इससे मर्यादा जाती है। इसलिये 'बेगि' शब्द दिया। (ख) ***'कहि गए'***—कहकर ऊपर-ही-ऊपर ब्रह्मलोकको चले गये। **'ययौ देवैः पूज्यमानो ब्रह्मलोकमकल्मषम्।'** (अ० रा० ८। ५२) दोहा ७० भी देखिये। (ग) ***'सोभत भए'***। यह विजयश्री है। शोभा है (बं० पा०)।

प० प० प्र०—१ *'बेगि हतहु·······'* में मात्रा कम करके जनाया कि—(क) भगवान् वीररसप्रधान मूर्तिका वर्णन करते-करते तथा भगवान्को अपने शापके कारण ही इतना परिश्रम सहना पड़ा, इस अनुतापसे मुनि भावापन्न हो गये, अधिक बोलना असम्भव हो गया। इस तरह प्रथमार्धमें हर्ष, विषाद, अनुतापादिके अनुभावोंको सूचित किया। तथापि मेघनाद और रावणके वध बिना देवादिका दुःख न मिटेगा। यह भी सूचित किया। (ख) द्वितीयार्धमें कोमल, मधुर सर्वाङ्गसुन्दर नीलवर्ण तनपर वीररसके परमाश्चर्यकारक अति मनोहर नयन परम अवर्णनीय हैं यह सूचित किया। यह *'कहि न सक छबि·······'* से आगे स्पष्ट किया है।

२ *'श्रीराम'* इति। भाव कि श्री अर्थात् ऐश्वर्य, लक्ष्मी, ऐहिक सुख और आनन्द परमानन्दके भी देनेवाले हैं।

छंद—संग्रामभूमि बिराज रघुपति अतुल बल कोसलधनी।
श्रमबिंदु मुख राजीवलोचन अरुन* तन सोनित कनी॥
भुज जुगल फेरत सर सरासन भालु कपि चहुँ दिसि बने।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि सेष जेहि आनन घने॥

---

* रुचिर तन—(का०)।

शब्दार्थ—**श्रम**=पसीना, स्वेद। शोणित=रुधिर, रक्त, खून। **कनी (कण)**=बहुत छोटा टुकड़ा, जैसे बालूकी रेतके कण। शोणितकण=खूनके छींटे। फेरना=घुमाना, मण्डलाकार गति देना।

अर्थ—अतुलित बलवाले कोशलराज रघुकुलके स्वामी रणभूमिमें विराजमान हैं। मुखपर पसीनेकी बूँदें, नेत्र लाल कमलके समान लाल, शरीरपर रक्तके छींटे हैं, दोनों हाथोंसे धनुष-बाण फेर रहे हैं और (उनके) चारों ओर भालु एवं वानर सुशोभित हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभुकी छविका शेष भी वर्णन नहीं कर सकते, जिनके बहुतेरे मुख हैं।

रा० प्र०—ये रुधिरविन्दु वे हैं जो कुम्भकर्णादिके शरीरसे बाण लगनेपर उड़े।

नोट—१—'*भुज जुगल फेरत सर सरासन*.........' इति। यथा—'*अवनि कुरङ्ग बिहग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत। मगन न डरत निरखि कर कमलन्ह सुभग सरासन फेरत॥*'—(गी०), '*करकमलन्हि धनु सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥*' (अ० २३९। ८) तथा यहाँ आनन्दमें मग्न यह क्रीड़ा कर रहे हैं। बं० पा० जी लिखते हैं कि यह वीरोंकी विजयसूचक मुद्रा है। *

दो०—निसिचर अधम मलाकर† ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम॥७०॥

अर्थ—हे गिरिजे! निशिचर कुम्भकर्ण नीच, अधर्मी और पापकी खानि था। उसे श्रीरामजीने '*निज धाम*' दिया। वे मनुष्य मन्दबुद्धि हैं जो श्रीरामजीका भजन नहीं करते॥ ७०॥

नोट—१ '*ताहि दीन्ह*' का भाव कि जो ऐसा पापात्मा था जब उसको धाम दिया तब जो उनका भजन करेंगे उनको क्यों न निज धाम देंगे; यह सोचकर उनका भजन करना चाहिये।

गौड़जी—'*निज धाम*' से यहाँ अपने लीलाविग्रहमें स्थान देना सूचित होता है। 'निजधाम' प्रभुके लीला विग्रहके लिये मानसकारने सर्वत्र प्रयुक्त किया है और जन्म-प्रसङ्गमें '*सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम*' में उसी लीलाविग्रहका संकेत है। लीलाविग्रहमें स्थान पानेमें सभी मुक्तियोंका समावेश है। कोई झगड़ा नहीं है।

नोट—२ पूर्व कहा कि '*तासु तेज प्रभु बदन समाना*' और यहाँ कहते हैं कि '*ताहि दीन्ह निज धाम।*' इससे कुछ महानुभावोंने '*तेज समाना*' का यह अर्थ किया है कि उसका तेज प्रभुके मुखके समान था।' तेजका समाना प्रमाणसिद्ध है, शिशुपाल इसका प्रमाण है। भक्तकी किसी प्रकार मुक्ति होना—'*निज धाम*' पाना है। निजधाम, हरिधाम, रामधाम ('*राम धाम पथ पाइहि सोई*', '*बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं*'—(उ० १३०) '*परम पद*' '*जहाँ संत सब जाहिं*' '*जहँ तें नहि फिरे*' इत्यादि जितने शब्द इस ग्रन्थमें आये हैं वे पर्याय हैं। हाँ, कहीं-कहीं शब्दोंके बदल देनेसे भावोंमें कुछ विलक्षणता भी जनायी गयी है। इस प्रकार अनेक मतोंका समावेश भी एक ही श्लेषार्थी शब्द देकर कविने कर दिया है।

इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा मिश्रित वर्णन की गयी है। मुख्य कथा मनु-शतरूपा-भानुप्रताप रावणवाले कल्पकी ही है। 'रामावतार' के चरित इसमें हैं, चाहे वे राम विष्णुभगवान्, श्रीमन्नारायण, साकेतविहारी राम—किसीके अवतार हों। मुख्य कथा साकेताधीशकी है पर जहाँ जिस और अवतारकी कथा विशेष है वह भी प्रसङ्ग आनेपर दे दी गयी है। जिस कल्पमें भानुप्रताप और अरिमर्दन, रावण-कुम्भकर्ण हुए उसमें '*तासु तेज समान प्रभु आनन*' दोनों मुक्त हो गये, फिर उनका जन्म नहीं हुआ। 'जय-विजय' को तीन जन्मका शाप है, इससे उनकी मुक्ति इस जन्ममें हो नहीं सकती, इससे उस अवतारकी कथा यहाँ नहीं जान पड़ती। रुद्रगणोंको भी एक ही जन्मका शाप था, इससे उस अवतारकी कथा भी यहाँ कवि 'निज धाम' से जना रहे हैं। इसीसे दो बार दो तरहके 'मुक्ति'-वाचक पद दिये। 'निजधाम' विष्णुलोक,

---

* पं०—यहाँ 'फेरत' पद सुधारनेके अर्थमें है। उनमें जो रक्त आदि लगा है उसे पोछते हैं।

† मलायतन—(का०)।

श्रीमन्नारायणका लोक और रामधाम (साकेताधीश रामका लोक) तीनोंमें घटित होता है।

पं० राजकुमारजी लिखते हैं—यहाँ *'निजधाम'* शिवलोक है। रुद्रगण-प्रसङ्गमें यह अर्थ संघटित है। *'गिरिजा'* सम्बोधन और नारदमुनिका इसी समय आगमन इस भावको पुष्ट करते हैं। इसी समय आनेका अभिप्राय यह है कि इन्होंने रुद्रगणोंको आशीर्वाद दिया था कि *'होइहौ मुकुत न पुनि संसारा'* उनमेंसे एक मुक्त हुआ, अब दूसरेकी शीघ्र मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं। इससे नारदकी दयालुता सूचित की।

पुनः प्रथम *'तासु तेज समान'* और दूसरी बार *'दीन्ह निज धाम'* कहनेसे यह भी भाव निकलता है कि इस तरह दोनों मतोंको कविने कह दिया। एक बार एक मुक्ति कही, दूसरी बार दूसरी। इस प्रकार जिस कल्पमें कैवल्य मुक्ति होना है उसके लिये *'तेज समान'* कहा और जिसमें वे पार्षद रावण हैं जो फिर उसी रूपसे सेवामें रहेंगे उनके लिये *'निज धाम'* कहा। बं० पा० जी दोनोंका समानाधिकरण इस प्रकार करते हैं कि ये पार्षद प्रभुके द्वारा धामको पहुँचेंगे, वहाँ पृथक् हो जायँगे। ७० (७-८) देखिये। वे धामका अर्थ लोक और स्वरूप दोनों लिखते हैं (गौड़जी—धामका एक अर्थ 'तेज' भी है। लोकका भी अर्थ 'तेज' है और 'स्वरूप' तो है ही। तेज अपने आकारमें मिल भी जाता है और काम पड़नेपर अलग भी हो जाता है। धाममें कल्पभेदके अनुसार सभी तरहके अर्थोंकी गुंजाइश है।)

नोट—३ *'जे न भजहिं श्रीराम०'।* श्रीराम अर्थात् समर-विजया-श्रीयुक्त। (बं० पा०) *'मन्दमति'* इति। *'अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥'* (४४। ६) देखिये। इससे यह भी जनाया कि जो भजन करते हैं वे सुमतिमान् हैं, चतुर हैं। यथा—*'रामहिं भजहिं ते चतुर नर', 'रामहिं भजहिं प्रबीन'।* जे, ते, द्वारा असम वाक्योंकी समता 'प्रथम निदर्शना अलङ्कार' है।

दिन के अंत फिरी द्वौ* अनी। समर भई सुभटन्ह श्रम घनी॥ १॥
राम कृपा कपिदल बल बाढ़ा। जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा॥ २॥

शब्दार्थ—**डाढ़ा**=अग्नि। **घनी**=बहुत; गहरा।

अर्थ—दिनका अन्त होनेपर दोनों ओरकी सेनाएँ फिरीं। (आजकी) लड़ाईमें सुभटोंको गहरा (बहुत बड़ा) परिश्रम और थकावट हुई॥ १॥ श्रीरामजीकी कृपासे कपिदलका बल ऐसा बढ़ा जैसे तिनकाका सहारा पाकर अग्नि खूब लगती है अर्थात् ज्वालायुक्त हो बढ़ती है॥ २॥

नोट—१—*'दिन के अंत'।* इससे जान पड़ता है कि कुम्भकर्णमरण दिन अन्त होनेके पहले ही हुआ। वानर-सेना निशाचरोंको मारती-भगाती रही, इसीसे दोनों सेनाओंका लौटना अब कहते हैं। या अपनी-अपनी सेना सँभालनेमें देर लगी। पूर्व मेघनाद-लक्ष्मण-युद्धके अन्तमें कहा है कि *'संध्या भई फिरी दोउ बाहिनी'* अर्थात् वहाँ युद्ध दिनके अन्ततक हुआ था। यदि कुम्भकर्णवधपर सब निशिचर भाग गये होते तो कपिदलका ही फिरना कहते। यथा—*'गरजहिं भालु बलीमुख रिपुदल बल बिचलाइ॥'* (४६), *'निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसलाधनी॥', 'भुजबल रिपुदल दलमलि देखि दिवस कर अंत। कूदे जुगल बिगतश्रम आए जहँ भगवंत॥'* (४४) *'गए जानि अंगद हनुमाना। फिरे भालु मरकट भट नाना॥'*

कुम्भकर्ण सेना साथ न लाया था—*'चला दुर्ग तजि सेन न संगा।'* पर रावणने सेना उसके साथ-साथ ही पीछे भेजी, यह बात वाल्मीकीयसे स्पष्ट हो जाती है। वह सेना पीछे ही रही, जब वानर-भालु-सेना तितर-बितर हो भगी तब वह आगे आयी, यह *'कुंभकरन कपि फौज बिडारी। सुनि धाई रजनीचर धारी॥'* (६६। ७) से प्रकट है। इसमेंके जो मरनेसे बचे थे उनका लौटना अब कहते हैं।

रा० प्र० का मत है *'द्वौ अनी'* से ऋक्ष और वानर इन दोनों सेनाओंको ले सकते हैं अथवा निशाचर और वानरी—ये दोनों सेनाएँ लौटीं।

गौड़जी—यहाँ श्रमका प्रयोग मानसकारने स्त्रीलिङ्गमें किया है। संस्कृतमें श्रम पुँल्लिङ्ग है। सूरदास

* दोउ—(का०), द्वौ—(भा० दा०)।

आदि अन्य कवियोंने भी 'श्रम' को पुँल्लिङ्ग माना है। *'कहे बृथा भ्रमि भ्रमि स्त्रम पाये।'* (सूर)। मानसकारने भी अन्य सभी स्थानोंमें पुँल्लिङ्ग ही माना है, जैसे, *'देखि बिभीषन प्रभु स्त्रम पायेउ। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायेउ॥'* ऐसा जान पड़ता है कि 'प्रश्न' की तरह 'श्रम' शब्दका प्रयोग भी मानसकारके मतसे उभय लिङ्गोंमें हो सकता था। [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि संस्कृत शब्दोंका प्राकृतादि भाषामें प्रयोग करते समय 'लिङ्ग-विपर्यय' करना दोष नहीं है। (प० प० प्र०)]

नोट—२ *'श्रम घनी'* क्योंकि कुम्भकर्ण ऐसे वीरसे कई बार सामना पड़ा था। *'सुभटन्ह घनी श्रम भई'* में यह भी संकेत है कि कुम्भकर्णसे सुभट ही लड़ते रहे, भट पास नहीं जाते थे (प० प० प्र०)। अथवा पहले भट भी आये थे, पीछे सुभट ही लड़े। सुभट ऐसे हारे कि भाग चले। यथा—*'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे।.........॥'* (६६। ६), *'जिमि तृन पाइ.........'*, भाव कि जैसे वायु पाकर अनायास तृणको अग्नि भस्म कर देती है।

नोट—३ *'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा'* इति। (क) श्रीरामकृपासे सब श्रम दूर हो गया और बल बढ़ा। पुनः (ख) भाव कि यद्यपि कुम्भकर्णके साथ युद्धमें श्रमित हो गये थे तो भी समरका उत्साह उनका बना हुआ है, यह रामकृपाका बल है (बं० पा०)।

नोट—४ *'तृन पाइ लाग अति डाढ़ा।'* यहाँ श्रीरामजीका किञ्चित् कृपाकटाक्ष तृण है, कपिबल मन्दाग्नि है। वह रामकृपाबलरूपी तृण पाकर बढ़ा। अग्नि तृण पाकर बढ़ती ही है।—यहाँ उदाहरण और प्रथम उल्लास अलङ्कार हैं। किसी टीकाकारका मत है कि 'निशिचरनाशरूपी तृण पाकर कपि-उत्साह बढ़ा' और करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'रामचन्द्रजीकी कृपासे कुम्भकर्णके वधसे कपिदलमें बहुत बल बढ़ा, जैसे तृणके समूहमें दावा लगनेसे फिर नवीन अङ्कुर उठते हैं। कुम्भकर्णकी मारसे कपिसेना जल रही थी, अब उसके मरणसे वानर, ऋक्ष प्रफुल्लित हो गये।

आवृत्तियाँ

प्रथम युद्ध—*'प्रभु प्रताप कहि सब समुझाए। सुनि कपि सिंह नाद करि धाए॥'* (३८। ६) से प्रारम्भ होकर *'निसा जानि कपि चारिउ अनी। आये जहाँ कोसलाधनी॥'* (४७। १) पर समाप्त हुआ। *'चारि अनी कपि कटक बनावा'* उपक्रम है। दिनका युद्ध *'फिरे भालु मर्कट भट नाना।'* (४४। ३) पर समाप्त हुआ और रात्रिका ४७ (१) पर। इस युद्धमें प्रभुप्रताप समझकर और हर्षित होकर श्रीरामचरणारविन्दमें प्रणाम करके वानर चले।—*'प्रभु प्रताप कहि सब समुझाये', 'हर्षित रामचरन सिर नावहिं।.........॥'* (३८। ७) अतएव इस युद्धमें बराबर वानर जयशील रहे।

दूसरा युद्ध—*'कोपि कपिन्ह दुरघट गढ़ घेरा।'* (४८। ९) से प्रारम्भ होकर *'संध्या भई फिरी द्वोउ बाहिनी। लगे सँभारन निज निज अनी॥'* (५४। ४) पर समाप्त हुआ। इसमें कपि प्रभुको प्रणाम करके न चले, प्रथम दिन जय पा चुके हैं, उत्साह बढ़ा हुआ है, अतः कोपकर अपने बलपर चले। फल हुआ कि *'सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥'* मेघनादकी सबपर जय हुई—*'दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर। सिंहनाद करि गरजा मेघनाद बलधीर॥'* (४९) हनुमान्‌जीने उसका रथ और सारथी नाश किया, क्योंकि इनके हृदयमें सदा प्रभु रहते हैं—*'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चापधर।'* लक्ष्मणजी बिना प्रणाम किये कोपपर चले अतः फिर मेघनादकी जय हुई।

तीसरा युद्ध—*'नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥' 'एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥'* (६४। २-३) से प्रारम्भ हुआ और *'दिन के अंत फिरीं दोउ अनी।.........॥'* (७१। १) पर समाप्त हुआ। प्रणाम न करनेसे सेना हारी। विशेष दोहा ७४ में देखिये। अन्तमें श्रीरामजीने उसे मारा।

छीजहिं निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहे* सुकृत जेहि भाँती॥ ३॥
बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई॥ ४॥

* धर्म—(का०)।

शब्दार्थ—छीजना=क्षीण होना, घटना, नाश होना—*'मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजइ निसिचर सुनु भाई॥'* (७४। ९)

अर्थ—निशिचर दिन-रात इस तरह घटते जाते हैं। जिस प्रकार अपने मुखसे अपना पुण्य कहनेसे घटता है॥ ३॥ रावण बहुत विलाप कर रहा है, बारम्बार भाईका सिर हृदयसे लगाता है॥ ४॥

रा० प्र०, पं०—*'छीजहिं निसिचर·········राती'* इति। रातमें कम होना इस भाँति है कि जो घायल होकर घर जाते हैं वे रातमें मर जाते हैं।

नोट—१ निशिचरके बढ़नेके उदाहरणमें कहा है कि वे ऐसे बढ़ते थे जैसे प्रत्येक लाभपर लोभ बढ़ता है, यथा—*'नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई॥'* (१। १८०। २) नाशमें ***'निज मुख कहे सुकृत जेहिं भाँती।'*** कहा। लाभसे लोभ बढ़ता है; इसलिये बढ़नेमें वह दृष्टान्त दिया। और, सुकृत कथनसे घटते हैं, यथा—**'यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्। आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात्॥'** (मनुस्मृति) अर्थात् झूठसे यज्ञ और विस्मयसे तपस्या नष्ट होती है, विप्रनिन्दासे आयुर्बल और अपने-आप कीर्तन करनेसे दान नष्ट होता है। अतः घटनेमें यह दृष्टान्त दिया। लाभ होनेमें देर लगती है पर सुकृत क्षीण होनेमें देर नहीं लगती; जैसे राजा ययातिका अनेक जन्मोंके सुकृतोंसे कमाया हुआ स्वर्गराज्य सुकृत-कथनसे तत्क्षण नष्ट हो गया और वे पृथ्वीपर आ गिरे। यह भाव दिखानेके लिये दो प्रकारके दृष्टान्त दिये गये।

नोट—२ *'बहु बिलाप।'* वाल्मी० ६८। ९—२४ अर्थात् १६ श्लोकोंमें जो कहा है वह सब इसमें आ गया। पूर्व लिखा जा चुका है कि भाईके शक्तिद्वारा मूर्छित किये जानेका बदला रावण-भ्रातृ कुम्भकर्णका वध करके चुकाया गया। अतएव दोनोंका विलाप भी समान ही हुआ है। वाल्मी० में दिये हुए विलापका मिलान प्रभुके (मानसमें दिये हुए) विलापसे पाठक कर लें। ☞श्रीराम और रावणके विलापका मिलान—

रावण	श्रीराम
बहु बिलाप दसकंधर करई	*बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन*
बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई	*राम उठाइ अनुज उर लायेउ*
१६श्लोकोंमें विलाप	१६ चौपाईयोंमें विलाप
मेघनादने शान्त किया	हनुमान्‌जीने शान्त किया

पर प्रभुके शोकालापको 'प्रलाप' कहा है, विलाप शब्दका प्रयोग उस प्रकरणभरमें नहीं है। इस भेदसे जनाया कि रावणका कुम्भकर्णपर इतना निर्व्याज प्रेम नहीं है जितना श्रीरामजीका लक्ष्मणजीपर है। (प० प० प्र०)

नोट—३*'पुनि पुनि'* से जनाया कि छातीसे लगाकर शोकसे मूर्छित हो जाता है या छाती हाथोंसे पीटने लगता है तब सिर गिर जाता है, अतः जब फिर सावधान होता है तब फिर सिरको उठाकर छातीसे लगाकर विलाप करने लगता है। इसीसे *'पुनि पुनि'* पद दिया।

वाल्मी० रा० में विलाप इस प्रकार है—राक्षसश्रेष्ठ रावण बड़ी कठिनतासे होशमें आकर, कुम्भकर्णवधसे दुःखी-व्याकुल होकर विलाप करने लगा—हा वीर! शत्रुओंके दर्पनाशक! हा कुम्भकर्ण! हा महाबल! दैवाधीन होकर तुम हमको छोड़कर यमराजके यहाँ चले गये। हमारे दुःखको बिना मिटाये और शत्रुसेनाको अकेले ही संत्रासित कर हमको छोड़ कहाँ चले गये। हा! हम अब नष्ट हो गये। क्योंकि हमारा दाहिना हाथ गिर गया, जिसके आश्रय हम देव-दानव किसीको न डरते थे। इस तरह देव-दानव-गर्वनाशक वीर! कालाग्निसदृश! आज तुम रणमें राघवसे मारे गये। जिस आपको वज्र भी कभी किंचित् पीड़ा न कर सका, वही आज तुम बाणसे पीड़ित हो सो रहे हो। देवगणसहित ऋषि गगनस्थ हैं। देखकर हँसते और तुम्हारी निन्दा करते हैं। अवश्य ही आज प्रसन्न होकर लक्षसिद्ध—वानर लङ्काके कोटपर चढ़कर द्वारको घेर लेंगे। हमें राज्यसे क्या! सीतासे भी अब क्या प्रयोजन! जीकर भी हम क्या करेंगे, यदि हम तुम्हारे मारनेवाले राघवको नहीं मारते। हमारा मरना ही भला है! जीना व्यर्थ है। आज ही हम वहाँ जायँगे जहाँ हमारा छोटा भाई है। भाईको छोड़ क्षणमात्र भी हम जीना नहीं चाहते। पहलेके अपकारी हमको

देख सब देवता हँसेंगे। हा कुम्भकर्ण! अब हम इन्द्रको कैसे जीतेंगे। हा! वह हमें महात्मा विभीषणका शुभ वचन अब प्राप्त हुआ जो अज्ञानवश हमने उस समय नहीं ग्रहण किया। विभीषणका वचन, कुम्भकर्ण और प्रहस्तका विनाश हमको अत्यन्त लज्जित करता है। उस कर्मका शोकप्रद फल हमको प्राप्त हुआ, जो हमने धर्मात्मा विभीषणको निकाल दिया। कुम्भकर्णके मरनेसे रावणकी आत्मा आकुल और अति दुःखी हो गयी। जिससे वह अत्यन्त विलाप करके गिर पड़ा।

रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज बल बिपुल बखानी॥५॥

अर्थ—स्त्रियाँ उसके विपुल बल और तेजकी बहुत सराहना कर-करके हाथोंसे अपनी छाती पीट-पीटकर रोती हैं॥ ५॥

नोट—१ बड़े लोगोंके मरनेपर तेज-प्रतापादि कहकर रोनेकी रीति है। यथा—*'रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ तव बल नाथ डोल नित धरनी॥'* (१०३। ४-५), *'सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥'* (अ० १५६)

नोट—२ छाती पीटना भी स्वभाव है। *'यथा—मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़त बहु भाँति पुकारी॥'* (७६। ७; मेघनादवधपर); *'उर ताड़ना करहिं बिधि नाना॥'* (१०३। ४; रावणवधपर) भाव कि वियोग होते ही छाती क्यों न फट गयी, बड़ी कठोर है।

कुम्भकर्ण-बल-पौरुष-संहार-प्रकरण समाप्त हुआ।

मेघनाद-बल-पौरुष-संहार

(नागपाश)

मेघनाद तेहि अवसर आएउ*। कहि बहु कथा पिता समुझाएउ॥६॥
देखहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करौं बड़ाई॥७॥
इष्टदेव सैं बल रथ पाएउँ। सो बलु तात न तोहि देखाएउँ॥८॥

अर्थ—उसी समय मेघनाद आया और बहुत (धीरज बँधानेवाली) कथाएँ कहकर पिताको समझाया॥ ६॥ और बोला कि कल मेरा पराक्रम, पुरुषार्थ देखना, अभी बहुत बड़ाई क्या करूँ॥ ७॥ हे तात! जो बल और रथ मैंने इष्टदेवसे पाया था वह बल आपको नहीं दिखाया (भाव कि उसका अवसर अभीतक नहीं आया था, अब आया है अतः दिखाऊँगा)॥ ८॥

नोट—१ *'मेघनाद तेहि अवसर आएउ..........'* इति। (क) कुम्भकर्णका वध, उसके सिरका बाणद्वारा रावणके आगे गिरना और उसे देखकर रावणका मणिरहित सर्पकी तरह व्याकुल होना तथा विलाप करनेका संवाद सुनकर मेघनाद आया। वास्तवमें इस समय अब रावणको कौन समझानेको समर्थ हो सकता था? *'जेहिं कहँ नहिं प्रतिभट जग जाता'* ऐसा भाई कुम्भकर्ण ही जब मारा गया, तब अब जीतकी कौन आशा? जब वैसा ही कोई वीर उससे भी अधिक बलवान्-शक्तिमान् हो तभी वह समझानेसे धैर्य धारण कर सकता। मेघनाद अपनेको सबसे अधिक वीर समझता है, अतः वह पिताका शोकाकुल होना सुनकर समझाने आया। (ख) *'कहि बहु कथा'* इति। भाव कि समझाया कि मुझ महाबली मेघनादके जीते-जी आपके दुःखका कारण ही कहाँ है? मैं अभी सब ठीक किये देता हूँ। मैं समस्त शत्रुओंको मार डालूँगा। यथा **'मयि जीवति राजेन्द्र मेघनादे महाबले॥ दुःखस्यावसरः कुत्र देवान्तक महामते। व्येतु ते दुःखमखिलं स्वस्थो भव महीपते॥ सर्वं समीकरिष्यामि हनिष्यामि च वै रिपून्॥'** (अ० रा० ८। ५५—५७) इतना कहनेसे उसका शोक निवृत्त न हुआ। अतः यह कहकर फिर अपने यज्ञोंद्वारा ब्रह्माको संतुष्ट कर उनसे अनेक वरोंको प्राप्त करने इत्यादिकी बहुत-सी कथाएँ कहीं, तब रावणका शोक दूर हुआ।

* आवा, समुझावा।

नोट—२ (क) *'बहुत का करउँ बड़ाई।'* भाव कि एकको भी जीता न छोड़ूँगा। (ख) 'इष्टदेव' ब्रह्माजी हैं, उन्हींसे उसने बल और रथ पाया था। पंजाबीजीके मतानुसार महाकाली इष्टदेवी हैं जिनका देवालय निकुम्भिलामें है। रा० प्र० शिवको इष्टदेव कहते हैं। बं० पा० अग्नि या देवीको इष्टदेव लिखते हैं।

'इष्टदेव सों बल रथ पाएउँ।'

वाल्मी० उ० २५ (७-१०) में लिखा है कि जिस समय रावण दिग्विजय कर रहा था उस समय शुक्राचार्यने मेघनादसे अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध, वैष्णवयज्ञ और माहेश्वरयज्ञ ये सात यज्ञ कराये, जिनसे आकाशगामी, अविनाशी, कामगामी दिव्यरथ और तामसी माया इसने प्राप्त की कि जिस मायासे अंधकार हो जाता है। वह माया संग्राममें छोड़नेसे सुरासुर कोई इसकी गतिको नहीं जान सकेगा। इसके अतिरिक्त उसने अक्षय तर्कश, अजीत धनुष और शत्रुनाशक बलवान् अस्त्र भी पाये थे। जब रावणको इन्द्रने घेर लिया और सब राक्षसोंमें हाहाकार मच गया, उस समय मेघनादने इस मायाको प्रकट किया और देवसैन्यमें प्रवेश करके इन्द्रके पीछे जाकर अदृश्य होकर मायासे ढके हुए इन्द्रको बाणोंसे व्याकुल करके बाँध लिया। इस जीतसे ब्रह्माने इसको 'इन्द्रजित्' नाम दिया। और रावणसे कहा कि इन्द्रको छोड़ दो, इसके बदलेमें वर माँग लो। मेघनादने अमरत्व माँगा, पर ब्रह्माजी बोले कि हमारी सृष्टिमें कोई अमर नहीं है। तब उसने यह माँगा कि विजयके लिये युद्ध करनेकी इच्छासे जब हम विधिपूर्वक अग्निमें होम करें तब हमारे लिये अग्निसे रथ निकले, जिसमें घोड़े जुते हों और जबतक हम उस रथपर रहें तबतक अमर रहें। यदि वह संग्रामका यज्ञ बिना समाप्त किये हम युद्ध करें तब उसी समय हमारा नाश हो। (वाल्मी० उ० ३०)

ब्रह्माका मेघनादको यह वरदान है कि तुम्हारे निकुम्भिलापर्वतमें तुम्हारे देवालयमें बने हुए महाकालीके क्षेत्रमें उपस्थित होकर अभिचार करनेसे तुमको मायामय रथादि प्राप्त होंगे, जिनसे तुम्हें शत्रुपर जय होगी। अभिचार वाल्मी० ७३ (१७—२६) में इस प्रकार वर्णित है—

यज्ञकुण्डके चारों ओर सेना, शर्पतकी जगह शस्त्र बिछाया, लाल वस्त्र धारण कर लोहेका स्रुवा और बहेड़ेकी समिधि (ईंधन) एकत्र कर यज्ञ प्रारम्भ किया—मारण-प्रयोगमें ये ही वस्तुएँ काममें लायी जाती हैं।…पतभालोंके ऊपर अग्नि स्थापित कर सम्पूर्ण काले रंगके छागको जीता ही उस अग्निमें आहुति देने लगा जिससे अग्नि विधूम हो प्रज्वलित हो उठी। उस समय अग्निमें सब विजयसूचक चिह्न दिखायी दिये। अग्निने स्वयं उठकर आहुति ग्रहण की, तत्पश्चात् मेघनादने अपने अस्त्र, धनुष, कवच, रथ आदि मन्त्रसे अभिमन्त्रित किये।

निकुम्भिलापर एक वटवृक्ष भी है, उसके मूलमें यह कुण्ड है। इस वृक्षके पास आनेपर मेघनाद अदृश्य होता था।* यथा—'**ब्रह्मोपदेशात्सनिकुम्भिलाद्रेर्न्यग्रोधमूलावटमाजगाम॥**' (हनु० १२। १४)

एहि बिधि जलपत भयउ बिहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना॥ ९ ॥
इत कपि भालु काल सम बीरा। उत रजनीचर अति रनधीरा॥ १० ॥
लरहिं सुभट निज निज जय हेतू। बरनि न जाइ समर खगकेतू॥ ११ ॥

अर्थ—इस प्रकार सारहीन वार्ता करते हुए सबेरा हो गया। लङ्काके चारों फाटकोंपर बहुत-से वानर जा लगे॥ ९॥ इधर कालके समान वीर वानर, भालु और उधर अति रणधीर निशिचर हैं॥ १०॥ योद्धा अपनी-अपनी जयके लिये लड़ते हैं। हे गरुड़! उनका समर वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ११॥

नोट—१ *'एहि बिधि जलपत………'* इति। (क) मेघनादकी बातोंको कवि 'जल्पना' कहकर जनाते हैं कि ये डींगें व्यर्थकी हैं, उससे कुछ होनेका नहीं। जो कहता है वह पूरा नहीं कर सकेगा। यही शब्द रावणकी डींगपर श्रीरामजी प्रयुक्त करेंगे।—*'जनि जल्पना करि………।'* (ख) *'चहुँ दुआर लागे………।'* पूर्व कहा था कि *'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा'*, उसीको यहाँ चरितार्थ किया कि वे प्रथम ही जाकर फाटकको घेर लेते हैं। जो कुम्भकर्णके ग्रास हो रहे थे, वे ही अब रामकृपासे काल-समान हो गये।

* 'इहोपहारं भूतानां बलवान् रावणात्मजः। उपहृत्य ततः पश्चात्संग्राममभिवर्तते॥ अदृश्यः सर्वभूतानां ततो भवति राक्षसः। निहन्ति समरे शत्रून्बध्नाति च शरोत्तमैः॥' (वाल्मी० ८७। ४-५)

नोट—२ *'इत कपि.........'* इति। (क) निशाचरोंको 'अति रणधीर' और वानर-भालुको 'कालसम' कहकर जनाया कि वे बड़ी लड़ाई करेंगे, रणसे भागनेवाले नहीं हैं, बड़ा पराक्रम दिखायेंगे; पर कालके सामने उनका पुरुषार्थ काम न देगा। पुनः (ख) 'कालसम' का भाव कि जो आता है उसीको खा लेते हैं और 'रणधीर' का भाव कि इतने भारी वीर जूझ चुके तो भी ये संग्रामको नहीं छोड़ते।—यहाँ पूर्णोपमा है। (बं० पा०) (ग) *'निज निज जय हेतू'—'भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥.........।'* (५२। ४-५) देखिये।

नोट—३ *'खग केतू'* इति। कुम्भकर्ण-युद्धमें शिव-पार्वती-संवाद है, उसमें जहाँ-तहाँ पार्वतीजीको ही सम्बोधन किया गया है। पर यहाँ युद्धके प्रारम्भमें ही 'खगकेतू' सम्बोधन किया है। भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि वही तुम्हारे मोहका प्रसंग आ रहा है, अब सावधान होकर सुनना, फिर न भूल जाना (पं०)। इसी तरह अरण्यकाण्ड वनचरितके प्रारम्भमें 'उमा' सम्बोधन है—*'उमा रामगुन गूढ़।'*

दो०—मेघनाद मायामय* रथ चढ़ि गएउ अकास।
गर्जेउ अट्टहास करि† भइ कपि कटकहि त्रास॥ ७१॥

अर्थ—मेघनाद मायामय रथपर चढ़कर आकाशमें चला गया और ठट्ठा मारकर गर्जा। जिससे कपिदल भयसे आक्रान्त हो गया॥ ७१॥

नोट—१ (क) *'मायामय रथ चढ़ि'* से जनाया कि ब्रह्माके वरदानानुसार निकुम्भिला-क्षेत्रमें जाकर अग्निमें विधिपूर्वक होम करके यह रथ और अस्त्र-शस्त्र पाकर वह रथमें चढ़कर आया। (ख) *'गएउ अकास।'* रथ भूमिपर भी चलता तो भी वह अदृश्य रहता पर वह आकाशमें गया, क्योंकि वहाँसे एक ही ठौर स्थित होकर सारी सेनापर बाणवृष्टि कर सकेगा। (ग) *'गर्जेउ अट्टहास करि.........।'* अट्टहास करके गर्जनेसे शत्रु-बलका तिरस्कार और अपनी विजयपर विश्वास सूचित किया। जैसा कि आगे उसके दुर्वादसे सिद्ध है—७३ (३) देखिये। (घ) *'भइ कपि कटकहि त्रास'* इति। अट्टहास और गर्जन सुनकर ही सेना भयभीत हो गयी; कारण कि पूर्व इसकी माया एवं इसके भीषण पराक्रमका परिचय सबको मिल चुका है, उससे अत्यन्त व्याकुल हो चुके हैं, यथा—*'कपि अकुलाने माया देखे। सब कर मरन बना यहि लेखे॥'* (५१। ५) और अबकी तो वह प्रथमसे ही अदृश्य है और ठट्ठा मारकर गरज रहा है न जाने क्या कर डाले? [वीर—'स्मृति संचारी भावका अङ्ग होकर भय स्थायीभावका वर्णन 'प्रेयालङ्कार' है।]

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना॥ १॥
डारै परसु परिघ पाषाना। लागेउ बृष्टि करै बहु नाना॥ २॥

अर्थ—मेघनाद शक्ति, त्रिशूल, तलवार, कृपाण (दुधारा खड्ग, कटार), अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वज्रके समान हथियार, फरसे, परिघ और पत्थर डालता है। फिर बहुतसे बाणोंकी झड़ी लगा दी॥ १-२॥

बं० पा०—वह मेघनाद है और आकाशमें स्थित है, अतएव *'लागेउ बृष्टि करै'* कहा। मेघ आकाशसे ही वृष्टि करते हैं।

☞ मिलान कीजिये-'**स्वसैन्यमुत्सृज्य समेत्य तूर्णं महाहवे वानरवाहिनीषु। अदृश्यमानः शरजालमुग्रं ववर्ष नीलाम्बुधरो यथाम्बु॥**' (वाल्मी० ६। ७३। ५१) अर्थात् अपनी सेनाको छोड़कर अन्तर्धान होकर वानरसेनामें जहाँ घोर युद्ध हो रहा था वहाँ शीघ्र आकर उग्र बाणोंका समूह बरसाने लगा, जैसे काले मेघ उग्रवर्षा करते हैं।

दस दिसि रहे बान नभ छाई‡। मानहु मघा मेघ झरि लाई॥ ३॥
धरु धरु मारु सुनिय धुनि काना§। जो मारै तेहि कोउ न जाना॥ ४॥

* मायारचित। † गर्जेउ प्रलय पयोद जिमि—(का)। मेघनाद नाम है अतः प्रलयके मेघ-समान गर्जना कहा; यथा हनु० १२। ४ 'मायारथं समधिरुह्य नभस्थलस्थो गम्भीरकालजलदध्वनिरुज्जगर्ज।'

‡ रहे दसहु दिसि सायक छाई। § सुनहि कपि काना—(का०, मा० म०)।

अर्थ—आकाशमें दसों दिशाओंमें बाण छा रहे हैं, मानो मघानक्षत्रके बादलोंने वर्षाकी झड़ी लगा दी हो॥ ३॥ 'धरो, धरो, मारो' ये शब्द कानोंसे सुनायी देते हैं पर जो मार रहा है उसे किसीने न जान पाया॥ ४॥

नोट—१ (क) *'दस दिसि'*—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्निकोण (पूर्व और दक्षिणके बीचका कोण), नैर्ऋत्यकोण (दक्षिण-पश्चिमके बीचमें), वायव्यकोण (पश्चिम-उत्तरके बीचका), ईशानकोण (उत्तर-पूर्वका बीच), ऊर्ध्व (सिरके ऊपरकी दिशा) और अधः (पैरके नीचेकी दिशा)। (ख) *'मघा झरि लाई'* इति। मघाकी झड़ीकी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि वह लगातार बाण बरसा रहा है, बाणवृष्टि क्षणभर भी बंद नहीं होती; दूसरे जैसे झड़ी बहुत बूँदोंकी होती है वैसे ही यह बहुत-बहुत बाण एक साथ सब दिशाओंमें बरसा रहा है। पुनः, जैसे मघाकी वृष्टि लाभदायक होती है वैसे ही इसकी बाणवृष्टिसे निशिचरोंको सुख होगा। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है—अश्विनी आदि २७ नक्षत्रोंमेंसे मघा दसवाँ नक्षत्र है, जिसमें पाँच तारे हैं। यह चूहेकी जातिका माना जाता है और इसके अधिपति पितृगण कहे गये हैं। जिस समय सूर्य इस नक्षत्रमें रहता है, उस समय खूब वर्षा होती है और उस वर्षाका जल बहुत अच्छा माना जाता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—पहिले कहा जा चुका है कि *'वर्षा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥'* सो वर्षाके दस नक्षत्र हैं। आर्द्रा,[१] पुनर्वसु,[२] पुष्य,[३] श्लेषा,[४] मघा,[५] पूर्वाफाल्गुनी,[६] उत्तराफाल्गुनी,[७] हस्त,[८] चित्रा,[९] और स्वाती[१०]। यहाँपर *'मानहु मघा मेघ झरि लाई'* लिखकर बतला दिया कि यह मेघनादकी लड़ाई मघा नक्षत्रकी वर्षा है। इसीसे पता चल जाता है कि लङ्कामें दस लड़ाइयाँ हुईं। पहिली लड़ाई हनुमान्‌जीकी लङ्कादाहके समय हुई, वह आर्द्राकी वर्षा थी, चारों फाटकोंकी लड़ाई पुनर्वसुकी वर्षा थी, मेघनाद-लक्ष्मण-युद्ध पुष्यकी वर्षा थी, कुम्भकर्ण-युद्ध श्लेषाकी वर्षा थी, यह दूसरा युद्ध मेघनादका मघाकी वर्षा है। मेघनादवध पूर्वाफाल्गुनीकी वर्षा, रावणका प्रथम युद्ध उत्तरफाल्गुनीकी वर्षा, दूसरा युद्ध हस्तकी वर्षा, स्वातीमें रावणवध। इस भाँति दस लड़ाईयोंका वर्णन लङ्कामें है, वे ही दस नक्षत्रोंकी वर्षा *'घोर निसाचर रारि'* है। (वि० त्रि०)

मा० म०—भाव कि जैसे मघाकी वर्षा पृथ्वीको संतुष्ट कर देती है, वैसे ही मेघनादने बाण-वर्षासे रावणको संतुष्ट कर दिया। पुनः जैसे मघा वर्षाका सींव है और पृथ्वीको जलमय कर देता है जिसका स्वाद पृथ्वी ही जानती है; वैसे ही मेघनादने पराकाष्ठाका युद्ध किया जिसके स्वादको वानर-भालु ही जानते हैं।

☞ मेघनादने अपने प्रथम युद्धमें भी अन्तर्धान होकर माया रची थी। उसमें आकाशसे अङ्गार बरसाया, पृथ्वीसे जलधारा निकाल बहायी, विष्ठा, रुधिर, पीब, कच, हाड़, उपल, राख और धूल बरसायी, पिशाच-पिशाचिनियाँ उत्पन्न कीं जो 'मारु काटु' ध्वनि करती थीं और अन्धकार ऐसा छा दिया था कि अपना हाथ भी फैलानेपर न सूझता था। अबकी बार उसने वह माया न रची, दूसरी प्रकारकी माया रची। इसका कारण है कि उसने देख लिया कि वह माया न चली, वह माया एक बाणसे ही श्रीरामजीने काट दी थी। मायाके कटते ही वह सबको दिखायी देने लगा था। इसीसे अबकी बार यह माया न की, अबकी मायामय रथमें होनेसे वरके बलसे वह अदृश्य है, वर झूठा हो नहीं सकता, इससे अपने छिपनेके लिये अन्धकारादिक उपायकी आवश्यकता नहीं। अस्त्र-शस्त्र बहुत-से चला रहा है, ये सब वरके प्रतापसे अमोघ हैं अतः इनको चलाकर सारी सेनासहित राम-लक्ष्मणजीको एक साथ ही मार डालनेका विचार कर रहा है।

☞ मिलान कीजिये-**'ते केवलं संददृशुः शिताग्रान्बाणान् रणे वानरवाहिनीषु। मायाविगूढं च सुरेन्द्रशत्रुं न चात्र तं राक्षसमप्यपश्यन्॥ ततः स रक्षोऽधिपतिर्महात्मा सर्वा दिशो बाणगणैः शिताग्रैः। प्रच्छादयामास रविप्रकाशैर्विदारयामास च वानरेन्द्रान्॥'** (वाल्मी० ६। ७३। ५६-५७) **'अन्तरिक्षं निरीक्षन्तो दिशः सर्वाश्च वानराः। न चैनं माययाच्छन्नं ददृशू रावणिं रणे॥'** (वाल्मी० ६। ४६। ८) अर्थात् सब वानर आकाश और सब दिशाओंमें उसे निरखते रहे, पर मायासे छिपे हुए मेघनादको रणमें न देख पाये। केवल उसके तीक्ष्ण बाण सर्वत्र देख पड़े।

गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं। देखहिं तेहि न दुखित फिरि आवहिं॥ ५॥
अवघट घाट बाट गिरि कंदर। मायाबल कीन्हेसि सर पंजर॥ ६॥

शब्दार्थ—**अवघट**=अटपट, दुर्घट। **पंजर**=पिंजड़ा। **घाट**=जहाँसे मार्ग पार किया जाता है, नदीके घाट।

अर्थ—पर्वत और वृक्ष ले-लेकर वानर आकाशमें दौड़कर जाते हैं, पर उसे नहीं देख पाते तब दुःखी होकर लौट आते हैं॥ ५॥ मेघनादने मायाके बलसे अटपट रास्तों, घाटों और पर्वत-कन्दराओंको बाणोंसे पिंजड़े बना दिये॥ ६॥

नोट—१ *'गहि गिरि·········'* श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे वानरोंने उसे आकाशमें ढूँढ़ा पर न पाया। प्रमाण, यथा—**'स तस्य गतिमन्विच्छन् राजपुत्रः प्रतापवान्। दिदेशातिबलो रामो दश वानरयूथपान्॥' 'ते सम्प्रहृष्टा हरयो भीमानुद्यम्य पादपान्। आकाशं विविशुः सर्वे मार्गमाणा दिशो दश॥' '·········अन्धकारे न ददृशुर्मेघैः सूर्यमिवावृतम्॥'** (वाल्मी० ४५। १, ४, ६)—प्रतापवान् राजपुत्र श्रीरामजीने मेघनादकी गतिको खोजनेके लिये दस वानर-यूथपोंको आज्ञा दी। वे सब बहुत प्रसन्नतासे बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़कर आकाशमें दसों दिशाओंको खोजते हुए पैठे। अस्त्रविज्ञ (में चतुर) वे अन्धकारमें उसको न देख सके, जैसे मेघसे ढके हुए सूर्य नहीं देख पड़ते। नोट—२ उद्योग करनेपर भी सफल न होना 'विशेषोक्ति अलङ्कार' है। निराधार आकाशमें उड़ना 'प्रथम विशेष अलङ्कार' है।

नोट—३ *'अवघट·········'* इति। दुर्गम और सुगम सभी स्थान बाणोंके पिंजड़ोंसे रोक दिये जिसमें मार्गमें भागनेका रास्ता ही न मिले, कन्दराओंमें घुसने ही न पावें, जाकर छिपना तो दूर ही रहा। 'मायाबल' यह कि क्षणमात्रमें यह काम हो गया और उसको कोई रोक न सका। (पं०) पूर्व जो कपि ***'धावहिं गनहिं न अवघट घाटा। पर्बत फोरि करहिं गहि बाटा॥'*** (४०। ५) वे ही अब कहीं भी जानेमें असमर्थ हो गये।

जाहिं कहाँ ब्याकुल* भए बंदर। सुरपति बंदि परे† जनु मंदर॥ ७॥

अर्थ—अब कहाँ जायँ (कहीं भी रास्ता नहीं है, यह समझकर) वानर विकल हो गये, मानो पर्वत इन्द्रकी कैदमें पड़े हों॥ ७॥

नोट—१ *'सुरपति बंदि·········।'* इति। (क) जब इन्द्र पर्वतोंके पङ्ख काटने लगा तब उसने भी सरपंजर बनाकर सभी पर्वतोंकी गति रोक दी थी। यहाँ मन्दर पर्वतका उपलक्षक है (पं०)। वा, जैसे मन्दराचल इन्द्रकी कैदमें होकर वज्रसे मारे जानेपर व्याकुल हुआ, वैसे ही वानर राह न पाकर बाणोंकी मारसे व्याकुल हो गये (करु०)। (ख) दूसरा अर्थ यह है कि 'मानो मन्दराचलमें, इन्द्र बंदीखानेमें पड़े हैं।' भारतमें यह कथा प्रसिद्ध है। इसी प्रकार इनकी गति रुक गयी (रा० प्र० बं० पा०)।

नोट—२ जैसे पर्वत कैदमें पड़कर घबड़ाये थे कि अब तो हमारे पक्ष वह अवश्य काट डालेगा, हम न तो उड़कर कहीं जा सकते हैं और न यहीं कैदमें अपनेको बचा सकते हैं; वैसे ही वानर—गति रुक जानेसे घबड़ाये कि अब यह बाणोंसे अवश्य मार डालेगा, हम कोई उपाय बचनेका कर नहीं सकते।—यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। सर-पञ्जरमें रूपक है।

मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥ ८॥
पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन। सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन॥ ९॥
पुनि रघुपति सैं जूझै‡ लागा। सर छाँड़ै होइ लागहिं नागा॥ १०॥

शब्दार्थ—**जर्जर**=झाँझर, चलनी सरीखा, छिद्रयुक्त। **जूझना**=लड़ना।

अर्थ—उसने पवनसुत, अङ्गद, नल, नील आदि सभी पूर्ण बलवानोंको व्याकुल कर दिया॥ ८॥ फिर लक्ष्मणजी, सुग्रीव और विभीषणको बाणोंसे मारकर उनके शरीरको छेदकर चलनी बना दिया॥ ९॥ फिर रघुनाथजीसे लड़ने लगा। जो बाण छोड़ता है वह सर्प होकर लगते हैं॥ १०॥

नोट—१ ☞ मिलान कीजिये—**'सुग्रीवमारुतिनलाङ्गदनीलमुख्या बाष्पान्धकारजलदान्तरितं प्रचण्डम्। तं रावणिं जलदमण्डलमास्थितं नो पश्यन्ति तान् प्रहरति स्म स घोरबाणैः॥**

* भए व्याकुल। † परे—(का०)। परेउ—भा० दा०। ‡ सन—का०, मा० म०।

....।

बाणैरपातयदहो फणिपाशबद्धैस्तौ मेरुमन्दरगिरी पविनेव शक्रः॥' (हनु० १२। ३-४)
अर्थात् सुग्रीव, हनुमान्, नल, अङ्गद, नील आदि जो मुख्य-मुख्य वानर हैं वे बादलोंके जलकणके अन्धकारके कारण जलदमण्डलमें स्थित भयंकर उस मेघनादको नहीं देख पाते और वह उनको भयंकर बाणोंसे मारता है। आश्चर्य है कि नागपाशमें बँधे हुए बाणोंसे उसने उन दोनों (श्रीराम-लक्ष्मण) को इस तरह बाँध लिया जैसे इन्द्रने वज्रसे सुमेरु और मन्दराचलको।

नोट—२ **'रामं च लक्ष्मणं चैव घोरैर्नागमयैः शरैः॥', 'बिभेद समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवौ। बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥'** (वाल्मी० ४४। ३४, ३६) अर्थात् नागमय बाणोंसे राम-लक्ष्मण दोनोंका सारा शरीर क्रोधित होकर रणमें बेध डाला और दोनोंको बाण-बन्धनसे बाँध दिया।

प० प० प्र०—*'मारुतसुत'* शब्द सहेतुक है। जिसके बढ़नेसे या जिसके अभावमें मृत्यु होती है उसे 'मारुत' कहते हैं। ऐसे मारुतके सुत होते हुए भी उनकी यहाँ कुछ न चली यह जनाया। इसीसे इनको प्रथम कहा तब अङ्गदादिको।

नोट—३ *'सकल बलसीला'* इति। भाव कि जिन्हें बलशील नहीं समझता था उनको छोड़ दिया। यथा—*'बूढ़ जानि शठ छाँड़ेउँ तोही। लोगेसि अधम प्रचारइ मोही॥'* (७३। ५) पुनः भाव कि ये सब बलवान् हैं; पर क्या करें, पराक्रम दिखानेका मौका ही नहीं मिला।

इस युद्धकी कुछ आवृत्तियाँ

☞यहाँतक चार कोटियाँ योद्धाओंकी दिखायीं। १—*'जाहिं कहाँ ब्याकुल भए बंदर।'* (७२। ७) ये साधारण भट। २—*'मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥'* ये सुभट वा विशेष भट। ३—*'पुनि लछिमन.........'* ये विशेषतर भट या महाभट। सुग्रीव और विभीषण राजा हैं, इससे इन्हें लक्ष्मणजीके साथ गिनाया। नहीं तो ये भी दूसरी कोटिमें आ जाते हैं। ४—*'पुनि रघुपति सैं जूझै लागा'* ये विशेषतम व दारुण भट हैं। ☞जैसे हनुमान्‌जीने अशोकवन विध्वंस करते समय—भट, सुभट, महाभट और दारुणभट (मेघनाद) को मर्दन किया था। वैसे ही यहाँ मेघनादने किया। सुं० १८ देखिये। इति प्रथमावृत्तिः।

२—भटोंकी दसों दिशाओंमें गति रोकी, यथा—*'जाहिं कहाँ ब्याकुल भए बंदर।'* सुभटोंको विकल किया, यथा—*'कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला।'* महाभटोंका शरीर जर्जर कर डाला, यथा—*'सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन'* और दारुण भटको नागपाशसे बाँधा, यथा—*'ब्यालपास बस भएउ खरारी।'* उत्तरोत्तर जैसे-जैसे भट विशेष वैसे-वैसे पीड़ा विशेष। इति द्वितीयावृत्तिः।

३—भटोंको मारा नहीं, सुभटोंको अस्त्र-शस्त्र नाना आयुधसे व्याकुल किया, इनसे विशेषको बाणोंसे छेदा और विशेषतमको नागबाणोंसे बेधा और बाँधा। इति तृतीयावृत्तिः।

वाल्मी० ४६ (१७—२०) में लिखा है कि मेघनादने सब यूथपोंको मारा। वही यहाँ *'सकल बलसीला'* हैं। वहाँ हनुमान्‌जीपर दस, अङ्गदजीपर बहुत-से और मयंद, नील, द्विविदपर तीन-तीन बाण चलाना कहा है। वाल्मी० के मेघनादने जाम्बवान्‌को भी मारा है—**'जाम्बवन्तं महेष्वासो विध्वा बाणेन वक्षसि॥'** (१९)

पु० रा० कु०—मेघनादका विनयमें कामसे रूपक दिया है—*'पाकारिजित काम विश्रामहारी।'* यहाँ मेघनाद आकाशमें गया। सब भयभीत हुए। हृदयाकाशमें काम जाकर डरवाता है, मेघनाद यहाँ आकाशमें छिपा बहुत बाण चलाता है—*'लागेउ बृष्टि करै बहु बाना।'* कामके पंचबाण ही *'बहुबान'* हैं। हृदयमें रहकर वह माया रचता ही है, यथा—*'उर बसि प्रपंच रचै पंचबान।'* कामका बाण सर्वत्र दसों दिशाओंमें चलता है, चाहे जहाँ कोई जाकर रहे। शृङ्गी ऋषि वनमें रहते थे, वहाँ भी उसने अपने बाण छोड़े, वैसे ही यहाँ मेघनादके बाण सब दिशाओंमें व्याप्त हैं। काम बड़े-बड़े वैराग्यवानोंको व्याकुल कर देता है—*'सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भए बियोगी॥'* (१। ८५। ८) वैसे ही यहाँ परम वैराग्यवान् हनुमान्‌जीको मेघनादने व्याकुल कर दिया—(दोहा ५१ की टिप्पणी भी देखिये)।

ब्यालपास बस भए* खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी॥ ११॥

अर्थ—स्वतन्त्र, आदि-अन्त-रहित, अद्वितीय एवं अखण्ड, समस्त विकाररहित (निरञ्जन, निरामय), खरारी (खरके नाशक एवं खलमात्रके शत्रु) श्रीरघुनाथजी नागपाशके वश हुए।

नोट—१ गरुड़जीको नागपाश-लीलासे ही मोह हुआ था। इसलिये 'व्यालपाशवश' होना कहनेके साथ ही उनके संदेहकी निवृत्ति-हेतु स्वतन्त्रता सूचित करनेवाले कई एक विशेषण देकर प्रभुका नरनाट्य पुष्ट कर रहे हैं। प्रारम्भमें ही बताया गया है कि यह प्रसंग गरुड़-भुशुण्डि-संवाद है। गरुड़का संदेह यह था कि—'*भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नाग पास सोइ राम॥*' (उ० ५८)

नोट—२ (क) '*खरारी*' से जनाया कि श्रीरामजी मायापति हैं। उन्होंने अपनी मायाके कौतुकसे खरादिको मारा था। वे बड़े मायावी हैं; परन्तु माधुर्यमें रणोशोभार्थ बन्धन स्वीकार किया है। उनके सामने इसकी माया क्या है, वे तो नरनाट्य कर रहे हैं। '*स्वबस*' हैं अर्थात् किसीके वश नहीं हैं, जीव स्ववश नहीं है, परवश है। यथा—'*परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥ भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥*.........*कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।*' (१। १३७), '*निज तंत्र नित रघुकुल मनी।*' (१। ५१), '*परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥*' (७। ७८। ७) जो परवश है, मायावश है वह स्ववश मायापतिको कैसे बाँध सकता है। पुनः, '*स्वबस*' कहकर जनाया कि जैसे जीव माया, कर्म, काल, गुण और स्वभावके वश परतन्त्र है, वैसे ये परतन्त्र नहीं हैं। ये तो केवल भक्तिसे वश होते हैं, अन्य कोई इन्हें वशमें नहीं कर सकता। यथा—'*निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति बस अबसहि करी।*' (ख) '*अनंत*' इति। 'अन् अंत' हैं अर्थात् उनकी सीमा नहीं है, उनका अन्त नहीं, वे देश, काल और वस्तु तीनोंसे अपरिच्छिन्न हैं, सर्वव्यापी, नित्य और सर्वात्मरूप हैं। यथा—'*आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥*' (१। ११८) '**व्यापित्वात् नित्यत्वात् सर्वात्मत्वात्, देशतः कालतः वस्तुतः अपरिच्छिन्नत्वात्, अनन्तः।**' जो ऐसा अनन्त है उसे कौन बाँध सकता है। (ग) '*एक*'—भाव कि इनकी महिमाके तुल्य दूसरा नहीं है ये अकेले ही चेतनाचेतनमें विचरते हैं, इनके समान या इनसे अधिक कोई नहीं। यथा—'**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**' (श्वे० ६। ८), '*जेहि समान अतिसय नहिं कोई।*' (३। ६), '**एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एकः।**', '**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**' (श्वे० ६। ११। ३) '*एक*' से यह भी जनाया कि शरणपालत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ, अकारण दयालुत्व आदि समस्त दिव्य गुणोंमें इनके समान कोई नहीं है। पुनः '*एक*' यथा—'**एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।**' सारा ब्रह्माण्ड इन्हींका रूप है, इनके सिवा दूसरा है ही नहीं, सबमें ये ही हैं, इन्हींकी सत्ता है। तब इन्हें बाँधेगा कौन? यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है। (घ) अविकारी अर्थात् जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित हैं। तब इनका बन्धन कैसे संभवित है। विकार, यथा—'**अस्ति जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।**' अधिकारी यथा—'*सकल विकार रहित गत भेदा*', '*चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥*' सच्चिदानन्द देहका बन्धन कैसे सम्भव है।

इन पाँचों विशेषणोंसे बन्धन नहीं संभवित होता।

मा० म०—'*अबिकारी*' शब्दके अन्तर्गत यह भाव है कि व्यालपाश लगनेपर रुधिर लेशमात्र भी नहीं गिरा; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दकन्द हैं और यही अनेक प्रकारका चरित्र करना ही लीला है परंतु वास्तवमें वे सबसे भिन्न हैं। यथार्थतः कोई बन्धन नहीं है।

पं०—अपनी इच्छासे व्यालपाशमें बँधे, यही निश्चय हुआ। निज इच्छासे बँधनेका भाव कि मेघनादने बड़ा तप करके नागपाश प्राप्त किया, अतएव हमें देवताका वचन रखना और इसका प्रयत्न सफल करना योग्य है, बंधनसे हमारी कुछ हानि तो है नहीं; यह विचारकर बँधे। पुनः, मेघनादको अपनी शक्ति और

* भएउ—(का०), भए—(भा० दा, मा० म०)।

ज्ञानका अभिमान है, उसे चूर्ण करनेके लिये बँधे। अथवा, रावण और मेघनाद हमारी पूर्ण अवज्ञा करें तो इनका तप-फल नष्ट हो जाय, यह विचारकर बँधे।—

(नोट—मानसकार इसका उत्तर आगे दे रहे हैं।)

नट इव कपट चरित कर* नाना। सदा स्वतंत्र एक† भगवाना॥ १२॥

रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो। नागपास‡ देवन्ह भय पायो॥ १३॥

अर्थ—भगवान् रामचन्द्रजी सदा स्वतन्त्र, एक और षडैश्वर्ययुक्त हैं। वे नटकी तरह अनेक प्रकारके (बनावटी) चरित करते हैं॥ १२॥ रणकी शोभाके लिये प्रभुहीने अपनेको नागपाशसे बँधाया; जिससे देवताओंको भय प्राप्त हुआ॥ १३॥

पं०—शत्रुको मारना शूरकी शोभा है, स्वयं मरना शोभा नहीं है। इसलिये यहाँ प्रभुकी शोभा नहीं कही, रणभूमिकी शोभा कही। दूसरे, रणमें सुभटोंका भागना निन्दित है, मारना और मरना ही शोभा है।

नोट—१ दृढ़ता-हेतु वही विशेषण दोहराये हैं।

पु० रा० कु०—१—*'रन सोभा लगि………'* इति। नागपाशमें अपनेको बँधाया, रणकी शोभा यही है। निशिचरों और मूढ़ोंको मोहित करनेके लिये ये चरित किये कि वे समझें कि राम भी बाँध लिये गये।

नोट—२ रणमें जबतक दोनों ओर हार-जीत न हो तबतक न रणकी और न योद्धाओंकी वीरताकी शोभा है। अतएव बँधे कि जिसमें उनका उत्साह बढ़े।—(वीर—अनुज्ञा अलङ्कार है)। ☞ *'नट इव चरित………'* का भाव *'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥'* (उ० ७२), *'अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'* अर्थात् जैसे नट अनेक रूप धरकर अनेक स्वाँग दिखाता है, जो रूप धरता है उसीका-सा स्वाँग करता है; वैसे ही श्रीरामजीने नरशरीर सुर-नर-मुनि आदिके हितार्थ धारण किया है, अतः मनुष्योंके-से स्वाँग भी करते हैं, जैसा वेष बनाया वैसा ही नाच नाचा—*'जस काछिय तस चाहिय नाचा।'* नट अपने सारे शरीरके अङ्गोंको काट डालता है; वस्तुतः न उसका शरीर कटा, न वह मरा; पर देखनेवालोंको वैसा प्रतीत होता है,—यह नटके स्वाँगका कौसल है। जिन्हें नटने मर्म बताया है वे भ्रममें नहीं पड़ते। वैसे ही जो रामभक्त हैं, जिनपर प्रभुकी कृपा है वे इस चरितसे मोहमें नही पड़ते। यथा—*'इन्द्रजालि कहुँ कहिय न सूरा। काटइ निज कर सकल सरीरा॥', 'सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला॥', 'नटकृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥'* (उ० १०४) इस तरह *'कपट'* और *'माया'* पर्याय भी हैं।

बं० पा०—१ यह कपट-चरित है अर्थात् प्रभु ऐश्वर्य छिपाये हुए हैं। क्योंकि रावणका वध नरके हाथ है। *'नट इव'* अर्थात् जैसे उसका चरित कपटयुक्त है वैसे ही इनका बँधना कपट चरितमें हैं।

रा० प्र०—*'देवन्हि भय पावा'* यह कपट-चरितकी निपुणता दिखायी कि दिव्य कोटिवाले देवताओंपर भी प्रभुकी मायाका प्रभाव पड़ा। यह स्वाँगका ओर छोर निर्वाह हुआ। 'दूसरा उल्लास अलङ्कार' है।

दो०—गिरिजा जासु$ नाम जपि मुनि काटहिं भवपास।

सो कि बंध तर आवै# व्यापक बिस्वनिवास॥ ७२॥

अर्थ—हे गिरिजे! जिसका नाम जपकर मुनि जन्ममरणरूपी भव-बन्धनको काट डालते हैं, क्या वह व्यापक, विश्वनिवास भगवान् बन्धनमें आ सकते हैं? (कदापि नहीं)॥ ७२॥

नोट—१ (क) *'गिरिजा'* इति। पार्वतीजीको भगवान्‌के स्वरूपमें संदेह हुआ था। और यहाँ भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है। अतएव शिवजी भी पार्वतीजीको सावधान करते हैं। पुनः

* कृत—पाठान्तर। † राम—(पं०, मा, म०)। ‡ 'देखि दसा', बँधावा, पावा—(का०)।

$ 'खगपति जाकर'। # 'सो प्रभु आव कि बन्धतर'—(का०)।

आगे गरुड़का आगमन आदि कहना है इससे यहाँसे संवाद बदलते हैं। पुनः ऊपर दिखा आये कि यह भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है। अब यहाँ *'गिरिजा'* सम्बोधन दिया क्योंकि यह संवाद शिवजीजी पार्वतीजीसे कह रहे हैं। (ख) *'जासु नाम जपि.........'* इति। यहाँ *'जप'* से सादर स्मरण जनाया, यथा—*'सादर सुमिरन जे नर करहीं। भवबारिधि गोपद इव तरहीं॥ राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥'* (बा० ११९) (ग) *'सो कि बन्ध तर आवइ'* इति। *'यह कौतूहल जानै सोई।.........।'* (५४। ३) में नोट देखिये। यही बात श्रीलक्ष्मणजीके वाल्मी० ८० के वचनोंसे सिद्ध होती है। उन्होंने ब्रह्मास्त्र चलाकर गुप्त मेघनादका एवं सारे राक्षसकुलका नाश करनेकी आज्ञा माँगी, तब श्रीरामजीने यही कहा कि एकके कारण पृथ्वीके सम्पूर्ण राक्षसोंको मारना उचित नहीं। जो युद्ध नहीं करते, छिपे हुए हैं या हाथ जोड़े हुए हैं, शरणमें प्राप्त हैं या भागे हुए हैं या मत्त हैं उनको न मारना चाहिये। हम उसके वधका यत्न करेंगे। इत्यादि। **'नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि॥ अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्। पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि॥' 'तस्यैव तु वधे यत्नं करिष्यामि महाभुज।.........॥'** (वाल्मी० ८०। ३८—४०)

पु० रा० कु०—यहाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप कहे।—[व्यापकसे सूक्ष्मरूप और विश्वनिवाससे स्थूल विराट्रूप। यथा—*'मनुजबास सचराचर रूप राम भगवान॥'* (१५), *'बिस्वरूप रघुबंसमनि.........।', 'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिस्राम॥'* (१। १९१), *'बिस्वबास प्रगटे भगवाना।'*]

रा० प्र०—व्यापक अर्थात् अखिल ब्रह्माण्डमें निवास है और विश्वनिवास अर्थात् समस्त विश्व उनमें ही बसा है, व्यष्टि और समष्टि भावसे दोनों कहे। भाव कि एक होकर भी सबमें व्यापक हैं अतः जगत्‌रूप हैं और जगत्‌रूप अनेक हैं इस प्रकार सर्वत्र व्यापक हैं।

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥ १॥
अस बिचारि ते तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥ २॥

शब्दार्थ—तर्कना=सोच-विचार या अनुमान करना, विवेचना करना। ☞जब किसी वस्तुके सम्बन्धमें वास्तविक तत्त्व ज्ञात नहीं होता तब इस तत्त्वके ज्ञानार्थ (किसी निगमनके पक्षमें) कुछ हेतुपूर्ण युक्ति दी जाती है, जिसमें विरुद्ध निगमनकी अनुपपत्ति भी दिखायी जाती है। ऐसी युक्तिको 'तर्क' कहते हैं। तर्कमें शङ्काका भी होना आवश्यक है। तग्य=तत्त्वज्ञ, तत्त्वके जाननेवाले, ज्ञानी। रामरूपके ज्ञाता।

अर्थ—हे भवानी! श्रीरामजीके सगुण रूपके चरितोंपर बुद्धि, बल और वाणी वा, बुद्धि और वाणीके बलसे तर्क नहीं किया जा सकता॥ १॥ ऐसा विचारकर जो तत्त्वज्ञानी और वैरागी (विरक्त) हैं वे सब तर्क छोड़कर श्रीरामजीको भजते हैं॥ २॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'चरित राम.........नाना'* इति। सगुण रूपके चरित नाना प्रकारके होते हैं, कुछ तो सुगम होते हैं कुछ अगम होते हैं। यथा—*'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥'* जिसमें तर्क चले वही सुगम है, जिसमें न चले वही अगम है। जीव परतन्त्र है। ईश्वर स्वतन्त्र है। अतः जीव जिन नियमोंसे बँधा है, वे नियम ईश्वरको नहीं बाँध सकते। जहाँ ईश्वरकी स्वातन्त्र्य शक्ति काम करती है वहाँ किसीका तर्क काम नहीं करता। शिवजी कह आये हैं कि *'राम अतर्क बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥ तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही॥'* इसी भाँति जो कारण शिवजीके समझमें आया *(रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो)* उसे कहकर भी अतर्क कहकर उपसंहार करते हैं।

नोट—१ *'तर्कि न जाहिं'* यथा—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'** (तैत्ति० २। ४), *'राम अतर्क बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥'* (१। १२१। ३), *'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (१। ३४१। ७)

पं०—भाव कि ऐसा करना था, ऐसा न करना था, यह कहनेकी शक्ति किसीकी नहीं क्योंकि उनकी अगाधताको कोई लख नहीं सकता।

सि० ति०—मनुष्यकी बुद्धि और वाणी सब प्राकृत एवं परिमित हैं। इनमें अपरिमित ब्रह्मके अगाध चरित आदि कैसे आ सकते हैं। व्यासजीने इसपर सूत्र भी लिखा है। यथा '**तर्काप्रतिष्ठानादपि।**' (ब्र० सू० २। १। ११) अर्थात् उसके विषयमें तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है, वह मनुष्योंके तर्कसे बाहर है। '**अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्**', '**इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिकनिषेधोऽपि दृश्यते।**' (ब्रह्म० सू० आनन्दभाष्य २। १। ११) अर्थात् अपनी परिमित बुद्धिसे अचिन्त्य वस्तुमें तर्कयोजना नहीं करनी चाहिये। यथा—'***नैषा तर्केण मतिरापनेया।***' (कठ० १। २। ९) अर्थात् बुद्धिके तर्कसे उस तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। वह ब्रह्मतत्त्व तो शुद्ध चित्त सात्त्विक उपासकके समक्ष स्वयं आविर्भूत होता है; यथा—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।**' (कठ० १। २। २२)

यदि कहा जाय कि 'तर्कके बिना जिज्ञासा ही कैसे की जायगी?' कहा भी है—'**वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।**' तो उसका उत्तर यह है कि यह तर्क और ही है कि श्रद्धालु शिष्य गुरुके समक्ष तर्क उपस्थित करे और गुरुजी उसकी शङ्काका निवारणकर और भी प्रबल तर्कसे उसे सिद्धान्त समझावें। गुरुवर्गमें श्रौतपरम्पराद्वारा, आया हुआ ज्ञान परमात्माका ही है। अतएव उनके ज्ञानसे उन्हें प्राप्त करना युक्त ही है, यथा—'**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**' (मु० १। २। १२) सात्त्विक भावसे जिज्ञासुरूपमें तर्कद्वारा तत्त्व जानना चाहिये। यथा—'**प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिता॥**' (मनु० १२। १०५)' इसमें 'अनुमान' भी स्पष्ट भी कहा गया है जो तर्कका ही पर्यायवाचक है।

नोट—१ तत्त्वज्ञ और विरागी तर्क त्यागकर भजन करते हैं; क्योंकि संशय उत्पन्न हो जानेसे ज्ञान और वैराग्य नष्ट हो जाते हैं। यथा—'***अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥***' (११९। ६) दूसरा कारण स्वयं यहीं कविने दिया है। २—'***तर्क सब त्यागी***', यथा—'***भजिय राम सब तर्क बिहाई।***' पुनः, भाव कि तर्क न करे वरन् विश्वासपूर्वक उनके चरितोंको उचित और उनसे अपना कल्याण समझ उनकी भक्ति करे, इसीसे विश्राम मिलेगा। जैसे यहाँ शिवजीने पार्वतीजीकी शङ्कानिवृत्त्यर्थ यह कहा है, वैसे ही भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है, यथा—'***बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम। रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम॥ अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥***' (उ० ९०)

प० प० प्र०—**तग्य**=ज्ञानी। **तर्क**=कुतर्क जो संशयसे उत्पन्न होते हैं। मिलान कीजिये—'***अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन।***' (७। ११२), '***यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥***' (३। ४३। १०) '**संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥**', '**दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्।**' (साधनपञ्चक), केवल ज्ञानी और विरागीके अन्तःकरणमें भी सगुण लीला-चरित देखने-सुननेपर संशय-संदेह उत्पन्न हो सकता है तथा ज्ञानविरागविहीन भजन करनेवालेमें भी। '***उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥***' (आ० मं० सो०) में देखिये।

ब्याकुल कटकु कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहै दुर्बादा॥ ३॥
जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा॥ ४॥

अर्थ—मेघनादने सेनाको व्याकुल कर दिया, फिर प्रकट होकर दुर्वचन कहने लगा॥ ३॥ तब जाम्बवंत बोले—अरे दुष्ट! खड़ा तो रह! यह सुनकर उसको बहुत क्रोध बढ़ा॥ ४॥

नोट—(क) '***घननादा***' पदसे जनाया कि दुर्वचन बड़े गर्वसे कहेगा जैसे '***घन घमंड नभ गर्जत घोरा।*** '***रघुपति निकट गएउ घननादा॥***' (५०। ५) देखिये। (ख) '***भा प्रगट***' भाव कि मायामय रथपर जबसे वह आया था तबसे अबतक अंतर्धान था, छिपा हुआ था। अब प्रकट हुआ। जान लिया कि अब भय

नहीं, सब विवश हैं। (ग) *'कहै दुर्बादा'* इति। वाल्मीकीयमें लिखा है कि **'रावणिर्भ्रातरौ वाक्यमन्तर्धानगतोऽब्रवीत्॥ युध्यमानमनालक्ष्यं शक्रोऽपि त्रिदशेश्वरः। द्रष्टुमासादितुं वापि न शक्तः किं पुनर्युवाम्॥ प्रापिताविषुजालेन राघवौ कङ्कपत्रिणा। एष रोषपरीतात्मा नयामि यमसादनम्॥'** (वाल्मी० ४५। १०—१२) अर्थात् अन्तर्धानगत मेघनाद श्रीलक्ष्मणजीसे बोला कि इन्द्र भी मुझे दृष्टिमें लानेको समर्थ नहीं हैं फिर तुम छोकरोंकी क्या ताब है कि मुझे ढूँढ़ लें। बाणोंके जालसे मैंने दोनोंको बाँध दिया है। ये कितने ही रोष भरे क्यों न हों अब हम तुमको यमपुरी भेज देते हैं। विशेष दोहा ५० (५) देखिये।

नोट—२ *'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा'* से जनाया कि इनको बलशील न समझकर घायल न किया था। *'कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला।'* आगे मेघनाद स्वयं कहता है—*'बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही।'* रावणने अङ्गदसे जाम्बवंतका तिरस्कार किया है—*'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥'*, वही तिरस्कार मेघनादने जनाया। (ख) *'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥'* (३१। २) अतः जाम्बवान्‌ने उसको ललकारा क्योंकि ये मूर्छित न थे। (ग) पंजाबीजीका मत है कि जाम्बवंत ब्रह्माके अवतार हैं। इसीसे ब्रह्मदत्त नागपाशका प्रभाव उनपर न पड़ा। पर यह भाव प्रसङ्गानुकूल नहीं है क्योंकि मेघनाद स्वयं कहता है कि *'बूढ़ जानि.........।'*

बूढ़ जानि सठ* छाड़ेउँ तोही। लागेसि अधम† पचारै मोही॥५॥
अस कहि तरल त्रिसूल चलायो‡। जामवंत कर गहि सो धायो॥६॥

शब्दार्थ—तरल=कान्तिवान्, प्रदीप्त, बिजलीकी तरह देदीप्यमान।

अर्थ—(मेघनाद बोला)—अरे मूर्ख! मैंने बुड्ढा जानकर तुझे छोड़ दिया था (सो) हे नीच! तू मुझको ही ललकारने लगा॥ ५॥ ऐसा कहकर उसने प्रदीप्त त्रिशूल चलाया। जाम्बवंतजी उसीको हाथसे पकड़कर दौड़े॥ ६॥

नोट—१ *'सठ'* और *'अधम'* कहा क्योंकि उपकारका कृतज्ञ न हुआ। मूर्ख और नीच कृतज्ञ नहीं होते।

नोट—२ *'जामवंत कर गहि सोइ धायो',*—जाम्बवंतने यह अपना बल दिखाया कि आते हुए हथियारको पकड़ लिया और उसीसे उसको मूर्छित कर दिया।

मारिसि मेघनाद कै छाती। परा भूमि卐 घुर्मित सुरघाती॥७॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो#। महि पछारि निज बल देखरायो॥८॥

अर्थ—मेघनादकी छातीमें वह त्रिशूल मारा। वह देवताओंका घातक मेघनाद चक्कर खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ७॥ फिर जाम्बवंतने क्रोधमें आकर उसका पैर पकड़कर उसे घुमाया और पृथ्वीपर पटककर अपना बल दिखा दिया॥ ८॥

नोट—१ (क) *'बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही',* इस तिरस्कारका यह उत्तर हुआ। भगवान्‌को दुर्वचन कहे थे, इसीसे जाम्बवन्तने यह फल चखाया। दूसरे, मेघनादने इनका भी अपमान किया और दुर्वचन कहे थे। अतः मूर्छा होनेपर भी न छोड़ा। (ख) 'हरिहरनिंदा' की, अतः उसको दंड दिया। नोट—२ *'पुनि रिसान।'* पुनि=फिर, तत्पश्चात्। पुनः, पुनि=दुबारा। एक बार दुर्वचन सुन क्रोध हुआ था, यथा—*'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा।'* ये वचन क्रोधके हैं, यथा—*'क्रोधके परुष बचन बल।'* प्रथम क्रोध हुआ तब कठोर वचन *'खल'* कहा, अब क्रोध हुआ तो चरण पकड़ घुमाकर पृथ्वीपर पटक दिया। पटकनेसे न मरा तब लङ्कामें फेंक दिया।

बर प्रसाद सो मरै न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा॥९॥
इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो॥१०॥

---

* जड़। † पतित। ‡ तीव्र त्रिसूल चलावा। जामवंत सो कर गहि धावा—(क०)।

卐 धरिनि। # फिरावा, देखरावा (का०)।

अर्थ—वरके प्रभावसे वह मारनेसे नहीं मरा तब पैर पकड़कर लङ्कापर फेंक दिया॥ ९॥ इधर देवर्षि नारदने गरुड़जीको भेजा। वह शीघ्र रामजीके पास आये॥ १०॥

नोट—१ *'बर प्रसाद'*—आ० रा० १। ११। १७५ और अ० रा० ८ में विभीषणने रामचन्द्रजीसे कहा है कि इसकी मृत्यु उसके हाथ है जिसने १२ वर्ष निद्रा और भोजन छोड़ा हो। यह ब्रह्माका वरदान है। यथा—**'यस्तु द्वादश वर्षाणि निद्राहारविवर्जितः॥ तेनैव मृत्युर्निर्दिष्टो ब्रह्मणास्य दुरात्मनः।'** (अ० रा० ८। ६४-६५) वाल्मीकीयमें वरका उल्लेख नहीं है। गीतावलीके अनुसार तो लक्ष्मणजीका भी शबरीजीके यहाँ फल खाना पाया जाता है। वाल्मी० ८५ में विभीषणजीका वचन श्रीरामजीसे यह है कि ब्रह्माने उसे वर दिया है कि यदि तुम्हारा शत्रु यज्ञस्थानमें तुम्हारे यज्ञकी समाप्तिके पहले ही पहुँचकर तुम्हें मारना चाहे तभी तो तुम्हारी मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं, यथा **'निकुम्भिलामसंप्राप्तमकृताग्निं च यो रिपुः। त्वामाततायिनं हन्यादिन्द्रशत्रो स ते वधः॥ वरो दत्तो महाबाहो सर्वलोकेश्वरेण वै। इत्येवं विहितो राजन्वधस्तस्यैष धीमतः॥'** (वाल्मी० ८५। १४-१५)

इसके अनुसार गीतावलीका मत भी ठीक है। कल्पभेद और मतभेदके कारण मानसमें 'वर' को स्पष्ट नहीं किया। 'वर' शब्द देकर कविने सब मतोंकी रक्षा की है।

प्र० स्वामीजीका मत अ० रा० के पक्षमें है। वे लिखते हैं कि मानसके लक्ष्मणजी शृङ्गवेरपुरसे ही निद्राहीन रहे हैं। वाल्मी० आश्रममें उन्होंने कंदादि खाये, तत्पश्चात् कहीं उनके फलादि भोजनका उल्लेख नहीं है। क्षुधा-पिपासा न लगनेकी विद्या बला, अतिबला वे विश्वामित्रजीसे सिद्धाश्रममें प्राप्त ही कर चुके हैं।

नोट—२ *'इहाँ देवरिषि ....।'* इति। नागपाश-बन्धनका प्रसङ्ग लिखते हुए बीचमें मेघनादका लङ्कामें जाम्बवान्‌द्वारा फेंका जाना कहने लगे थे, अब फिर पूर्व प्रसङ्गको उठाते हैं—**'ब्यालपास बस भएउ खरारी'** और *'इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो।'*

देवर्षि नारदजीने कुम्भकर्ण-वधपर गुणगान किया है और प्रार्थना की है कि दुष्टोंको शीघ्र मारिये। रणभूमिपर वे इस समय भी थे, यथा—*'देखि दसा देवन्ह भय पायो॥'* (७२। १३) नागपाश-चरित देख उन्होंने जाकर गरुड़को भेजा। गरुड़जीको पहिले ही क्यों न भेजा? कारण कि यदि गरुड़जी मेघनादके सामने आते और नागपाश काटना चाहते तो मेघनाद उनसे ही युद्ध करने लगता। तब नागपाशसे छुटकारा कैसे कर सकते? अतएव जब जाम्बवंतने मेघनादको मूर्छित करके लङ्कापर फेंक दिया तब इनका आगमन कहा गया।

दो०—खगपति सब धरि खाए मायानागबरूथ।
माया बिगत भए सब हरषे बानरजूथ*॥
गहि गिरि पादप उपल नख धाए कीस रिसाइ।
चली तमीचर बिकलतर गढ़ पर चढ़े पराइ॥ ७३॥

शब्दार्थ—**नख**=नाखून; खण्ड, टुकड़े।

अर्थ—पक्षिराज गरुड़ने सब माया सर्प-समूहको पकड़कर खा लिया। सब मायारहित हो गये। सब वानरयूथ प्रसन्न हुए। पर्वत, वृक्ष, पत्थरके टुकड़े ले-लेकर वानरोंने क्रोधित होकर धावा किया। निशिचर बहुत विकल होकर भाग चले और गढ़पर चढ़ गये॥ ७३॥

नोट—मिलान कीजिये—**'तमागतमभिप्रेक्ष्य नागास्ते विप्रदुद्रुवुः। यैस्तु तौ पुरुषौ बद्धौ शरभूतैर्महाबलैः॥' 'नीरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानरयूथपाः। सिंहनादं तदा नेदुर्लाङ्गूलं दुधुवुश्च ते॥'** (वाल्मी० ५०। ३७, ६१) अर्थात् जो सर्प महाबलवान् बाणरूपसे राम लक्ष्मणजीको बाँधे हुए थे वे सब आये हुए उन गरुड़जीको देखकर इधर-उधर भाग गये। दोनों राघवोंको नीरोग देखकर वानरयूथप सिंहनाद करने लगे और आनन्दमें लाङ्गूल फिराने लगे।—वाल्मीकीयमें गरुड़को देखकर नागोंका भाग जाना कहा है और मानसमें गरुड़जी नागोंको खा

* 'पन्नगारि षाए सकल छनमहुँ ब्यालबरूथ। भए बिगत माया तुरित हरषे बानरजूथ॥' (का०, मा० म०, पं०)

डालते हैं। इससे जनाया कि ये मायानाग गरुड़से डरे नहीं, अतः उन्हें पकड़-पकड़ खाना पड़ा। **'हरषे'** से श्लोक ६१ का भाव सूचित किया है, अर्थात् सब सिंहनाद करने लगे और आनन्दमें लाङ्गूल फिराने लगे।

मा० म०—***'माया बिगत भए'*** का भाव यह है कि अपनी मायासे रहित हुए जिस बन्धनके मिष दोनों दलोंको उन्होंने मोहित कर दिया था!

वीर—यहाँ राक्षसोंके हृदयमें जो उत्साह स्थायीभाव बढ़ रहा था कि इतनेहीमें वानरोंकी मारसे पूर्वोत्पन्नभाव लय होकर भय स्थायीभाव प्रबल हो गया यह, 'भावशान्ति' है।

मेघनाद कै मुरुछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी॥ १॥

तुरग गएउ गिरि बर कंदरा। करौं अजय* मख अस मन धरा॥ २॥

अर्थ—मेघनादकी मूर्छा बीती (वह सचेत हुआ), पिताको देखकर उसे अत्यन्त लज्जा लगी॥ १॥ वह तुरत पर्वतकी बड़ी श्रेष्ठ गुफामें गया और मनमें निश्चय किया कि अजय-यज्ञ करूँ॥ २॥

नोट—१ (क) ***'मेघनाद कै मुरुछा जागी'*** इति। ***'मारेसि मेघनाद कै छाती। परा भूमि घुर्मित सुरघाती॥'*** उपक्रम है, और यहाँ उपसंहार है। इस प्रकार ***'घुर्मित'*** का अर्थ मूर्छित हुआ। ***'घुर्मित भूतल पर्यो तुरंता॥'*** (६४। ८)। ***'.........मुरुछा गइ मारुतसुत जागा॥'*** (६५। ४) देखिये। (ख) ***'लाज अति लागी'*** इति। क्योंकि कहाँ तो बापसे कहा था कि—***'देखहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई॥ इष्टदेव सैं बल रथ पायउँ। सो बल तात न तोहि देखायउँ॥'*** (७१। ७-८) और बल क्या देख पड़ा कि ***'परा भूमि घुर्मित सुरघाती।.........महि पछारि निज बल देखरावा॥'*** (७३। ६-७) एक बुड्ढेने पैर पकड़ सूखी लकड़ीकी तरह घुमाकर फेंक दिया। यह अति लज्जाकी बात हुई। पुनः, प्रथम बार जब युद्धको गया था तब बापसे कहा था कि ***'कौतुक प्रात देखियहु मोरा। करिहउँ बहुत कहउँ का थोरा॥'*** (४८। ६) और अबकी कहा था कि ***'देखहु कालि मोरि मनुसाई॥'*** पहली डींग दो चरणोंमें थी, अबकी पाँच चरणोंमें। अतएव पहले लज्जा हुई थी कि लक्ष्मणजीको उठा न ले जा सका, जिसमें वे जीवित न हो सकते। और अब अति लज्जा हुई थी। पुनः, पहले कौतुक दिखानेको कहा था और अबकी पुरुषार्थ; 'अतः अति लज्जित'।

नोट—२ (क) ***'तुरत गरउ'*** जिसमें शत्रुको खबर न हो और मैं यज्ञ पूरा करके अजय हो जाऊँ। दूसरे, ***'तुरत'*** इससे कि अभी दिनका अन्त नहीं हुआ है, वानर-सेना अभी रणभूमिपर ही है, फिरी नहीं है। फिरी होती तो फिरना अवश्य कहते, जैसे पूर्व सर्वत्र कहते आये हैं। (ख)***'गिरि बर कंदरा।'*** निकुम्भिला क्षेत्र कन्दरामें है, वहीं देवीका स्थान और यज्ञशाला है। अतः गिरि-कन्दरामें जाना कहा। आ० रा० १। ११। १८०—४ में उल्लेख है कि यहाँ एक योगिनीवट है, उस वटके नीचे योगिनी गुहा है। विशेष आगे ७५। (१-२) में देखिये, यह वही कन्दरा है। आ० रा० में लक्ष्मणजीके साथ जाकर हनुमान्‌जीका योगिनी वट और गुहाका नष्ट करना तथा गुहाकी शिला हटाकर यज्ञशालामें जाना लिखा है। वाल्मी० सर्ग ८२। २५ में निकुम्भिलामें जाकर हवन करना लिखा है। यथा—'**निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित्**॥' दोनोंका समानाधिकरण आ० रा० से हो जाता है कि 'गुहा' के भीतर निकुम्भिलाक्षेत्र है। हनु० १२। १८ में लिखा है कि निकुम्भिलापर्वतमें वटवृक्षकी जड़के नीचे गर्तमें, अर्धचन्द्राकारकुण्डमें इन्द्रजित्‌ने जाकर हवन किया, यथा—'**तत्र निकुम्भिलाद्रौ न्यग्रोधमूलेऽवटे रावणिः (सत्वरम्)। कुण्डे बिभीतकसमिद्भिरथार्धचन्द्रे शक्रेभकुम्भदलनः पलमाजुहाव**॥' इस उद्धरणसे भी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है। (ग) ***'अस मन धरा'*** अर्थात् किसीको प्रकट नहीं किया, मनमें ही बात रखी।

प० प० प्र०—विषादयुक्त होकर पूरा बदला लेनेकी इच्छासे मत्सरयुक्त होकर गया। यह दुष्ट अजय-मख करनेको गया है; सिद्ध होनेसे मरेगा नहीं, यह कवि जानते हैं, अतः उनके हृदयमें धक्का लगा, अर्धालीमें दो मात्राएँ कम देकर यह सूचित किया है।

* 'अजग मष'।—(क०)। अजग अर्थात् जिससे संसार न रह जाय, सबका संहार हो।

इहाँ* बिभीषन मंत्र बिचारा। सुनहु नाथ बल अतुल उदारा॥ ३॥
मेघनाद मख करै अपावन। खल मायावी देव सतावन॥ ४॥

अर्थ—यहाँ (रामदलमें) विभीषणजीने यह सलाह विचारकर कही—हे उदार! (श्रेष्ठ-बड़े) हे अतुल बली स्वामी! सुनिये॥ ३॥ दुष्ट, मायावी, देवताओंको सतानेवाला पापी मेघनाद अपावन यज्ञ कर रहा है॥ ४॥

नोट—१ ☞ विभीषणके मन्त्री (अनल, पनस, सम्पाति और प्रमति जो इनके साथ आये थे) और उनकी स्त्री सरमा आदि बराबर गुप्तचरका काम कर रहे हैं। दोहा ३७ देखिये।

नोट—२ *'बल अतुल उदारा।'* भाव कि यद्यपि आप बड़े अतुलित बली हैं, वह चाहे जितना यज्ञादिक करे आपको जीत नहीं सकता तो भी यह समाचार शत्रुका है; इससे सुनाता हूँ, आप सुनें, आपको निर्बल जानकर नहीं सुनाता।

नोट—३ *'अपावन'* यज्ञ क्योंकि भैंसा, रुधिर आदिकी बलि उसमें दी जाती है। दूसरे, वह यज्ञ सबको सतानेके लिये है। पुनः मेघनाद मायावी है, दुष्ट इत्यादि है, अतः वह भी अपावन है। **'खल, मायावी, देव सतावन'** विशेषण दिये जिसमें शीघ्र ही इसका वध करें। क्रमसे विशेषण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। यहाँ 'सार अलङ्कार' है। दुष्ट है, अतः माया करता है। मायावी है; अतः मायासे देवताओंको पीड़ा देता है—माया-बलसे ही इन्द्रपर जय पायी। पुनः, वह खल इत्यादि है। आप दुष्टोंका दलन और देवताओंकी रक्षा करते हैं, अतः इसे मारकर उनकी रक्षा कीजिये। पुनः, *'मायावी'* यहाँ देकर 'मायासीता-वधप्रसंग' जो हनुमान्‌जी उस समय श्रीरामजीसे कह रहे थे, वह भी इशारेसे जना दिया। विभीषणजीने श्रीरामजीसे कहा कि मेघनादने सबको धोखा देनेके लिये अवश्य यह माया रची होगी, जिसमें वह निश्चिन्त होकर यज्ञ कर सके। (वाल्मी० ८४) वाल्मीकीयमें भी लगभग यही विशेषण आये हैं। यथा—**'जहि वीर दुरात्मानं मायापरमधार्मिकम्। रावणिं क्रूरकर्माणं सर्वलोकभयावहम्॥'** (८६। ५) (विभीषणोक्ति लक्ष्मणं प्रति)

शीला—*'देव सतावन।'* तात्पर्य कि यज्ञ सत्कर्म है, ऐसा समझकर श्रीरामजी रुक न जायँ कि यज्ञ तो दैवभाग है इसे कैसे भङ्ग करें। मायावी अर्थात् चुराकर (मायासे) अधर्मयुद्ध करता है, अतः उसके यज्ञमें विघ्न करनेमें अधर्म नहीं होगा।

जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि। नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि॥ ५॥
सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना॥ ६॥
लछिमन संग जाहु सब भाई। करहु बिधंस जज्ञ कर जाई॥ ७॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि यज्ञ सिद्ध होने पावेगा तो हे नाथ! फिर वह शीघ्र जीता न जा सकेगा॥ ५॥ श्रीरघुनाथजीने सुनकर अत्यन्त सुख माना (भाव कि हमारे साथ तुमने बड़ा उपकार किया) और अङ्गद आदि अनेक वानरोंको बुलाया और कहा॥ ६॥ हे भाइयो! सब भाई लक्ष्मणजीके साथ जाओ और जाकर यज्ञको विध्वंस (नष्ट-भ्रष्ट) करो†॥ ७॥

नोट—१ *'जौं प्रभु………।'* इति। *'जौं'* का भाव कि सिद्ध होनेमें संदेह है क्योंकि आप *'प्रभु'* अर्थात् समर्थ हैं, उसका यज्ञ अवश्य विध्वंस करेंगे। *'प्रभु'* का दूसरा भाव कि आप तो समर्थ हैं, आपसे

* 'सो सुधि पाइ विभीषन कहई। सुनु प्रभु समाचार अस अहई॥' (का०)

† रिपु (का०)। 'राघवस्तु रिपोर्ज्ञात्वा माया वीर्यं दुरात्मनः। लक्ष्मणं कीर्तिसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत्॥ यद्वानरेन्द्रस्य बलं तेन सर्वेण संवृतः। हनूमत्प्रमुखैश्चैव यूथपैः सह लक्ष्मण॥ जाम्बवे नर्क्षपतिना सह सैन्येन संवृतः। जहि तं राक्षससुतं मायाबलसमन्वितम्॥ अयं त्वां सचिवैः सार्धं महात्मा रजनीचरः। अभिज्ञस्तस्य मायानां पृष्ठतोऽनुगमिष्यति॥' (वाल्मी० ८५। २०—२३)

अर्थात् दुरात्मा शत्रुका मायाबल समझकर रामजी कीर्ति-सम्पन्न लक्ष्मणजीसे ये वचन बोले—बड़े-बड़े पराक्रमी वानरोंको जिनमें हनूमान् मुख्य हैं, उनके साथ और ऋक्षराज जाम्बवन्तके सेनासहित तुम जाकर मायावी मेघनादको मारो और ये महात्मा राक्षसश्रेष्ठ विभीषणजी भी मन्त्रियोंसहित जो उसकी मायाको समझनेवाले हैं, आपके पीछे-पीछे जाते हैं।

ऐसा कहना ढिठाई ही है कि वह जीता न जा सकेगा।

नोट—२ *'बेगि पुनि जीति न जाइहि'* इति। पूर्व *'प्रभु'* और *'बल अतुल उदारा'* कहा, अतः यह नहीं कहते कि वह अजय हो जायगा किंतु कहा कि देर लगेगी, क्योंकि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वरदानको मिथ्या न करेंगे और यह कार्य शीघ्रताका है क्योंकि वह दुष्ट और देवसतावन है। वाल्मीकीयमें उन्होंने कहा है—**'चैत्यं निकुम्भिलामद्य प्राप्य होमं करिष्यति। हुतवानुपयातो हि देवैरपि सवासवैः॥ दुराधर्षो भवत्येष संग्रामे रावणात्मजः।'** (वाल्मी० ८४। १४-१५) **'यद्युत्तिष्ठेत्कृतं कर्म हतान्सर्वांश्च विद्धि नः॥'** (वाल्मी० ८५। १३) अर्थात् निकुम्भिलास्थानमें पहुँचकर आज वह होम कर रहा है, यदि यज्ञ सिद्ध हो गया तो इन्द्रसमेत समग्र देवताओंसे भी युद्धमें दुराधर्ष हो जायगा। निर्विघ्न यज्ञ समाप्त करके उठनेपर वह निश्चय ही हम सबोंको मार डालेगा।

नोट—३ (१)*'सुनि रघुपति अतिसय सुख माना'* प्रसन्न हुए क्योंकि (गुणग्राही) हैं, (२) विभीषणजीने सत्य-सत्य कहा है, वह हृदयसे प्रेम रखता है ऊपरसे ही नहीं, यह समझकर। वा, (३) बड़े मौकेसे समाचार मिला, अभी उपाय हो सकता है। वा, (४) यज्ञके विध्वंसमें मेघनादके नाशका योग है। वा, (५) कृतज्ञ हैं। हमारे साथ बड़ा उपकार किया, यह समझकर सुखी हुए। (पं० मा० म०)

नोट—४ *'बोले अंगदादि………'* इति। (क) अङ्गदादि—दोहा ७४ में जो नाम गिनाये हैं, वे 'आदि' से जना दिये। (ख) ☞ यहाँ 'अङ्गदादि' कहकर अङ्गदको प्रधान रखा, हनुमान्‌जीको आदिमें न रखा, यद्यपि इनका बल प्रख्यात है कि इनके समान योद्धा नहीं। अन्यत्र जहाँ-तहाँ हनुमान्‌जीको आदिमें रखा है, यथा—*'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥'* (७। ८। २) भेदका कारण यह है कि अङ्गद बालिपुत्र है, इन्द्रका पौत्र है। इन्द्रको मेघनादने बाँधा था, कुम्भकर्णने कई बार इन्द्रको घायल किया था, इसका बदला बालि रावणसे न ले सका था। इसका उसको पश्चात्ताप था। यथा—**'अथ रघुपतिबाणः प्राप्तवीरप्रमाणः प्रलयदहनरोचिः कोटिविद्युन्मरीचिः। अकृत हृदयभेदं बालिनः सोऽप्यरोदीदनिहतपितृशत्रुः किं सशल्यो हतोऽस्मि॥'** (हनु० ५। ५७)

(अर्थात्) श्रीरामजीका बाण, जिसे वीरका प्रमाण मिल चुका है और जो प्रलयाग्निकी कान्ति एवं करोड़ों बिजलियोंकी चमकके सदृश है, उसने बालिके हृदयको भेदा। वह रोने लगा कि अपने पिता इन्द्रके शत्रु रावणको बिना मारे ही मैं मारा गया।—अङ्गदको पिताकी अभिलाषाकी पूर्त्तिमें उत्साह होगा, अतः उनको प्रथम कहा। दूसरे, अङ्गद युवराज हैं और मेघनाद भी युवराज। इससे अङ्गदको यहाँ प्रथम कहा। तीसरे, एक बार हनुमान्‌जीको आदिमें और दूसरी जगह अङ्गदको आदिमें देकर अङ्गद और हनुमान् दोनोंको बराबर सम्मान कविने दिया है।

नोट—५ (क) *'लछिमन संग'* से लक्ष्मणजीको प्रधान रखा और सबको गौण। (ख) *'सब भाई'* इति। यद्यपि सुग्रीवादि सभी वानर और विभीषण अपनेको सेवक ही जीसे मानते और वचनसे कहते हैं, पर प्रभु उनको सेवक कभी नहीं मानते। वे तो इन्हें सदा 'सखा', 'भ्राता' और 'भाई' आदि ही सम्बोधन देते हैं और जीसे ऐसा मानते हैं। यथा—*'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥'* (७। ८। ७), *'आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत॥'* (विनय० २५१) तथा यहाँ *'जाहु संग सब भाई।'* भाईको भेजते हैं; अतः सबको भाईके समान मानते हैं। अहा! कौन स्वामी सेवकोंको यह पदवी देते हैं? भाई ही सङ्कटमें काम आते हैं।

तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही। देखि सभय सुर दुख अति मोही॥ ८॥
मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजै निसिचर सुनु भाई॥ ९॥

अर्थ—लक्ष्मण! तुम संग्राममें उसे मारना। देवताओंको भयभीत देख मुझे बड़ा दुःख है॥ ८॥ हे भाई! सुनो! बल, बुद्धि और उपायसे उसे मारना, जिससे निशिचरका नाश हो॥ ९॥

नोट—१ (क) अङ्गदादि साथियोंको यज्ञ-विध्वंसकी आज्ञा दी और लक्ष्मणजीको उसके वधकी। (ख) विभीषणजीने *'मायावी देव सतावन'* कहा, अतः प्रभुने *'देखि सभय सुर……'* कहा। उन्होंने *'मायावी'* कहा, उसकी जोड़में यहाँ *'मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई'* कहा। (ग) *'बल बुद्धि'* देखो। नोट—२*'मारेहु*

रन ओही।' 'रण' का भाव कि यज्ञ करते समय मारना क्षत्रियधर्मके विरुद्ध है; अतः यज्ञ-विध्वंस होनेपर लड़ाईमें मारना। यही बात सात्यकिसे कृतवर्माने कही थी कि तू कैसे वीर हुआ कि यज्ञमें दीक्षित भूरिश्रवा राजाको मारा। पुनः, यथा—'**न हन्ति दीक्षितस्येव साधवः**' (वाल्मी०)।

नोट—३ *'मारेहु तेहि बल बुद्धि.........'* इति। *'देखि सभय सुर दुख अति मोही'* इस कथनसे और *'लछिमन मारेहु ओही'* से मेघनादवध अपने अधीन सूचित किया। इससे ईश्वरता प्रकट होती है। अतः ऐश्वर्य छिपानेके लिये फिर कहा कि *'मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई'* अर्थात् मनुष्य-रीतिसे मारना; क्योंकि अभी रावणवध करना है। उसकी मृत्यु मनुष्यसे ही है। ऐश्वर्य प्रकट होनेसे फिर मारनेमें वरदान झूठा हो जायगा। इसीसे कहा कि *'जेहि छीजै निसिचर.........।'* अर्थात् रावणका नाश हो। (शीला)

☞अ० रा० के मेघनादकी मृत्यु १२ वर्ष निद्रा और भोजन त्यागे हुए मनुष्यके हाथ थी और उसमें विभीषणजीका श्रीरामजीसे यह भी कथन है कि लक्ष्मणजीने भोजन और निद्राका त्याग किया है। यथा—'**लक्ष्मणस्तु अयोध्याया निर्गम्यायात् त्वया सह। तदादि निद्राहारादीन्न जानाति रघूत्तम॥**' (८। ६४) आप उनको हमारे साथ भेजें। अतः उसके अनुसार यहाँ इतनी कथाका अध्याहार ऊपरसे कर लें।

वाल्मी० और अ० रा० दोनोंमें विभीषणजीकी श्रीरामचन्द्रजीसे लक्ष्मणजीको साथ भेजनेकी प्रार्थना है; अतः उनकी रुचिके अनुकूल वहाँ श्रीरामजीने उनको सबके साथ भेजा। मानसमें यह कथा नहीं है, यहाँ तो केवल यज्ञका समाचार पाकर लक्ष्मणजीको उसके लिये समर्थ समझकर, वधकी आज्ञा देकर भेजा है। पर, वह कथा भी ऊपरसे लगा ली जा सकती है।

लक्ष्मणजीको क्यों भेजा? मेघनादने श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति मारी थी, इससे इन्हींके हाथों उसका वध उचित जानकर लक्ष्मणजीको भेजा। इस चरितसे यह प्रकट करेंगे कि पूर्व शक्तिका प्रसंग प्रभुकी लीलामात्र थी। पुनः, मेघनाद रावणका पुत्र है और लक्ष्मणजी भी श्रीरामजीके पुत्र-समान हैं। यथा—*'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥'* (२। ७२। ४) श्रीसुमित्राजीने भी कहा है—*'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥'* (२। ७४। २) और श्रीरामजीने भी सुत सम्बोधन किया है, यथा—*'अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥'* (६०। १३) अतः इन दोनोंका जोड़ योग्य है। पूर्व ५१ (७) में लिखा जा चुका है कि श्रीरामजीने मेघनादपर बाण इसीसे वहाँ न चलाया कि रावणके पुत्रपर क्या हाथ चलावें! पुनः प्रभुको सब विदित है, इसीसे लक्ष्मणजीको भेजा जैसे हनुमान्‌जीको मुद्रिका दी थी। विधिने इन्हींके हाथ उसकी मृत्यु लिखी है।

जामवंत सुग्रीव बिभीषन। सेन समेत रहेहु तीनिउ जन॥१०॥
जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन। कटि निषंग कसि साजि सरासन॥११॥

अर्थ—श्रीजाम्बवन्तजी, सुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी! आप तीनों प्राणी सेनासमेत लक्ष्मणके साथ रहियेगा॥ १०॥ जब रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा दी तब कमरमें तरकस कसकर और धनुषको सज्ज करके (अर्थात् धनुषपर रोंदा चढ़ाकर)॥ ११॥

नोट—१ (क) पहले प्रधान वानरोंको साथ जानेको कहा। अङ्गद युवराज हैं। उसे कहकर तब राजाओंको कहा। जाम्बवन्त ऋक्षराज हैं, सुग्रीव वानरराज और विभीषण राक्षसराज हैं। पुनः, (ख) जाम्बवन्त वृद्ध मन्त्री हैं, इससे उनकी मान्यता सुग्रीव और विभीषणके समान दिखाया और उनको इनके साथ कहा। सुग्रीवको विभीषणसे पहले कहा क्योंकि वे प्रथम शरणमें आये थे, दूसरे सुग्रीव वानराधिपति हैं। उन्होंने श्रीसीताजीको ला देनेकी प्रतिज्ञा की है। विभीषण लङ्काका सब हाल जानते हैं, वे यज्ञशाला आदि बतायेंगे। यथा—'**अभिज्ञस्तस्य देहस्य जानाति विवराणि सः॥**' (अ० रा० ९। ६) दोहा ७४ (४—७) देखिये।

नोट—२ *'सेन समेत रहेहु.........'* इति। भाव कि सेनासे अलग होनेपर तुमपर ही प्रथम चोट करेगा; क्योंकि जाम्बवन्तसे अभी-अभी वह हारकर लज्जित हो चुका है। विभीषणको भ्राताद्रोही कहकर यह भी कह चुका ही है कि*'आजु सबहिं हठि मारउँ ओही'* और सुग्रीव वानरराज हैं, इनके मारे जानेसे सारी सेना भाग

जायगी·······इत्यादि।—दोहा ६४ देखिये। दूसरे, अभी-अभी ये उसके चाचाके नाक-कान भी काट चुके हैं, उसका बदला लेगा। यहाँ सबको सावधान किया कि वह साधारण वीर नहीं है। सुग्रीवादि लड़ाईमें इस स्थलको छोड़ कहीं एक साथ नहीं भेजे गये। इस आज्ञासे जनाया कि मेघनादसे युद्ध सब युद्धोंसे कठिन युद्ध है।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवन्त तीनोंको सेनासहित साथ रहनेको कहा, जिसमें शत्रु चोट न करे। लक्ष्मणजी प्रधान हैं। प्रधानपर शत्रुका विशेष लक्ष्य रहता है; इसीसे कहा कि तीनों सेनासहित इनके साथ ही रहना अलग न होना।

मेरी समझमें भाईको एक बार शक्ति लग चुकी है। उसमें बड़ा दुःख प्रभुको हुआ कि हमारे रहते लक्ष्मणजीकी यह दशा हुई। इसीसे अब उनकी रक्षाके लिये वात्सल्यभावसे इन सबको साथ रहनेकी आज्ञा दी। यहाँ—*'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥'* (अ० १४२) का चरितार्थ है।

नोट—३ *'जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन।·········'* इति। प्रभुकी आज्ञा अटल है। उनके वचन असत्य नहीं हो सकते। यथा—*'प्रभु अज्ञा अपेल श्रुति गाई। करौ सो बेगि जो तुम्हहिं सुहाई॥'* (सुं० ५९) जिसको-जिसको प्रभुने आज्ञा दी, उसने-उसने काम पूरा किया। यथा—(क) *'पाछे पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥ बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥'* वह कार्य सिद्ध हुआ। (ख) बालि-पुत्रको आज्ञा दी—*'लंका जाहु तात मम काजा।'* उन्होंने भी जैसा कुछ कार्य किया, वह भी प्रसिद्ध ही है। तथा—(ग) यहाँ लक्ष्मणजी आज्ञा पानेसे समझ गये कि अब कार्य सिद्ध है—*'स्वयं सिद्ध सब काज'* इसीसे अबकी शपथ करके चले।

प्रभु प्रताप उर धरि रनधीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा॥ १२॥
जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥ १३॥
जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रघुबीर दोहाई॥ १४॥

अर्थ—रणधीर लक्ष्मणजी प्रभुका प्रताप हृदयमें रखकर मेघके समान गम्भीर वाणी बोले*—॥ १२॥ 'यदि आज मैं उसे बिना मारे आऊँ तो श्रीरघुनाथजीका सेवक न कहाऊँ॥ १३॥ जो सैकड़ों शङ्कर भी उसकी सहायता करें, तो भी उसे मार डालूँगा, रघुवीरकी शपथ करता हूँ'॥ १४॥

नोट—१ (क) *'प्रभु प्रताप उर धरि'* इति। प्रथम बार जब मेघनादसे युद्ध करने गये थे तब प्रतापको उरमें न धारण किया था; इसीसे शक्ति लगी। अबकी प्रभुके प्रतापके भरोसे गये, अतः विजय हुई। (ख) *'रनधीरा'* का भाव कि वीर हैं, मेघनादको अपने पुरुषार्थसे मार सकते हैं। प्रथम बार भी मेघनादका प्राणावशेष कर दिया था, पर ब्रह्मदत्त शक्तिकी मर्यादा रखी थी। तथापि भक्त हैं, उसके वधमें रामप्रतापको ही मुख्य मानकर जा रहे हैं।

बं० पा०—*'घन इव।'* यहाँ सामना भी 'मेघनाद' से है, उसकी जोड़में यहाँ *'घन इव'* कहा। गम्भीरता गुणके विचारसे *'घन इव'* कहा।

वाणीकी गम्भीरता कई प्रकारकी होती है। जैसे कि गूढ़ आशयसे भरी, गहरी, जोरसे बोली हुई, इत्यादि। यथा—*बोले गिरा गँभीर।'* (१। २७३), *'घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं'* (गी० १। ७१) यहाँ मेघके समान गम्भीर शब्द हैं।

रा० प्र०—*'सत संकर·········।'* क्योंकि इन्हींके वरदानसे वह दर्पित हो रहा है; अथवा शङ्करजी रणके देवता हैं, इससे उनका नाम लिया।

वीर—यहाँ लक्ष्मणजीका बन्धुविषयक रतिभाव वीररसके अङ्गसे वर्णित होना 'प्रेयालङ्कार' है।

---

* वाल्मीकीयमें उनके वचन ये हैं—'रामपादावुपस्पृश्य हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत्॥ अद्य मत्कार्मुकोन्मुक्ता शरा निर्भिद्य रावणिम्। लङ्कामभिपतिष्यन्ति हंसाः पुष्करिणीमिव॥ अद्यैव तस्य रौद्रस्य शरीरं मामकाः शराः। विधमिष्यन्ति भित्त्वा तं महाचापगुणच्युताः॥' (६। ८५। २५—२७) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीको प्रणामकर लक्ष्मणजी बोले कि आज हमारे बाण मेघनादको भेदकर लङ्कामें ऐसे गिरेंगे जैसे हंस पुष्करिणीमें गिरते हैं। आज हमारे बाण रौद्रकर्मीके शरीरमें प्रवेश करेंगे।

नोट—२ लक्ष्मणजी परम रामानन्य हैं, वे श्रीरामचन्द्रजीके सिवा किसीको नहीं जानते-मानते। यथा—'*मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।*' (२। ७२। ६) इसीसे भरतजीतक (एवं पिता दशरथजी) को राम-विरोधी समझकर मारनेको तैयार हो गये थे। उस समय भी ऐसी ही शपथ की थी। यथा—'*आजु रामसेवक जस लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥*.........*जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारौं रन राम दोहाई॥*' (२। २३०)

परशुरामजीको ऋषि और ब्राह्मण जानकर भी, राम-अपमान करनेके कारण, इन्होंने उनकी पर्वा न की और उनसे भी कहा था—'*अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥*' (१। २७६)

ये ऐसे अनन्य हैं कि इन्होंने शपथ भी जब की तब श्रीरघुनाथजीकी ही की, दूसरेकी नहीं। यथा—'*जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ।*' (१। २५३), '*तौ मारौं रन राम दोहाई*' और '*तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई।*' शङ्करजी संहार करनेवाले हैं, इससे इन्हींका नाम लिया अर्थात् यदि संहार करनेवाले शङ्करजी, एक-दो क्या सैकड़ों ऐसे आ जायँ तो भी वे हमें कुछ हानि न पहुँचा सकेंगे। पुनः, 'शङ्कर' हैं अर्थात् कल्याण करनेवाले हैं, यदि ऐसे सैकड़ों भी शङ्कर आकर उसका कल्याण करना चाहें, हमारे हाथ वध होनेसे बचाना चाहें तो भी वह बचाये न बचेगा।

जनकजीके वचनपर माष होनेपर प्रभुकी शपथ करके कहा था कि '*कर न धरौं धनु भाथ*' क्योंकि वहाँ वीरतापर आक्षेप किया गया था—'*अब जनि कोउ माषइ भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥*' भाव कि न कर सकूँ तो वीरताका चिह्न ही न धारण करूँगा। और यहाँ आज्ञारूपी सेवा मिली है, इसीसे शपथ की कि वध न करूँ तो सेवक न कहाऊँ। (रा० बा० दा०)

इनके वचनोंके सम्बन्धमें पूर्व '*बोले गिरा प्रमान।*' (१। २५२) और '*सपथ प्रमान।*' (२। २३०) ऐसा कहा था और '*घन इव गिरा गँभीर*' कहा। '*जौं*' का भाव कि श्रीशङ्करजी आपके परम भक्त हैं, पुनः माधुर्यमें '*सेवक स्वामि सखा सिय पी के*' हैं; तब वे कदापि उसकी सहायता न करेंगे, सहायतामें संदेह है। रामद्रोहीकी रक्षा कोई कब करेगा? दोहा १४ (८) देखो। '*सेवक न कहावउँ*' बड़ी भारी शपथ है। भाव कि मुझे यह अभिमान है कि '*मैं सेवक रघुपति पति मेरे*' पर आजतक कोई सेवा न मिली। आज प्रभुने आज्ञा दी। आज्ञा-पालन करे, वही सेवक है—'*आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा*' और '*सेवक सोइ जो करइ सेवकाई।*' मेघनाद-वधकी आज्ञा है, वध करूँ तभी सेवक कहलाना सत्य हो सकता है।

अयोध्याकाण्डमें एक ही 'शङ्कर' कहा था, यहाँ 'सौ शङ्कर' कहे। भाव कि पूर्व आज्ञा माँगी थी पर मिली न थी। (दोहा ५१ देखो) इससे शपथ भी कड़ी न थी। अबकी प्रभुने स्वयं आज्ञा दी है, सेवा मिल गयी है, आज्ञासे निश्चय है कि कार्य सिद्ध होगा; अतः कड़ी शपथ की है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'*जौं सत संकर*.........*दोहाई*' इति। लक्ष्मणजी सरकारको दुःखित नहीं देख सकते। यथा—'*सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।*' (६०। ३) चित्रकूटमें भरतजीके आनेका समाचार सुनकर जब रामजीको अत्यन्त सोच हुआ तब लक्ष्मणजीने यह जानकर कि भरतजी युद्ध करनेके लिये ससैन्य आ रहे हैं, इसलिये सरकार दुःखी हैं, आपेके बाहर हो गये, कहने लगे—'*जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारौं रन राम दोहाई॥*' इसी भाँति यहाँ भी सरकारके मुखसे सुनकर कि '*देखि सभय सुर दुख अति मोही।*' ठीक वैसी ही बात बोल रहे हैं। तात्पर्य इतना ही है कि सरकार चिन्ता छोड़ दें, मैं उसे अवश्य मारूँगा, कोई उसे अब बचा नहीं सकता। शङ्करभगवान्‌के अनादरमें तात्पर्य नहीं है।

दो०—रघुपति चरन नाइ सिरु* चलेउ तुरंत अनंत।
अंगद नील मयंद नल संग सुभट† हनुमंत॥ ७४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें माथा नवाकर श्रीलक्ष्मणजी तुरंत चले। साथमें श्रीअंगद, नील, मयंद, नल और हनुमान्‌जी आदि उत्तम योद्धा थे॥ ७४॥

---

* बंदि रामपदकमल जुग। † रिषभ—(का०)।

'चरन नाइ सिर.........'

श्रीरामजीको प्रणाम करना कल्पतरुके समान मनोरथ सिद्ध करनेवाला है। पिछली बार प्रणाम न किया था तब शक्ति लगी थी। प्राय: जहाँ-जहाँ प्रणाम करके कार्यके लिये प्रस्थान किया गया है, वहाँ-वहाँ अवश्य सफलता हुई है, लङ्काकाण्डमें ही देखिये—१—युद्धके प्रारम्भमें वानर प्रणाम करके चले तब बराबर जय ही हुई। यथा—*'हरषित रामचरन सिर नावहिं। गहि गिरि सिखर बीर सब धावहिं॥'* (३८। ७) तब *'चले निसाचर निकर पराई। प्रबल पवन जिमि घन समुदाई॥'* (४१। ३), *'भंजेहु रथ सारथी निपाता। ताहि हृदय महुँ मारेसि लाता॥ दुसरे सूत बिकल तेहि जाना। स्यंदन घालि तुरत गृह आना॥'* (४२। ७-८), *'भुजबल रिपुदल दलमलि देखि दिवस कर अंत। कूदे जुगल बिगत श्रम आये जहँ भगवंत॥'* (४४) और *'कछु मारे कछु घायल कछु गढ़ चले पराइ। गर्जहिं भालु बलीमुख रिपुदल बल बिचलाइ॥'* (४६) यहाँ प्रथम युद्ध समाप्त हुआ। वानर जीते।

२ (क)—दूसरे दिन युद्धमें प्रणाम नहीं है, यथा—*'कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा।'* (४८। ८) तब *'सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥ दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर॥'* (४९) (ख) लक्ष्मणजीने प्रणाम न किया तब फल हुआ शक्तिसे मूर्छा।

३—तीसरे युद्धमें तीन बार लड़ने गये पर प्रणाम करके न गये, यथा—*'एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥'* (६२। ३) तब *'अंगदादि कपि मुरछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहँ चला अमित बल सींव॥'* (६४) (ख) *'जय जय जय रघुबंसमनि धाये कपि दै हूह॥'* (६५) तब *'कुंभकरन कपि फौज बिदारी', 'देखी राम बिकल कटकाई॥'* (६६। ७-८) (ग) *'बिकल बिलोकि भालु कपि धाये।'* तब *'चले भागि कपि भालु भवानी॥'* (६९। २)

४—चौथे युद्धमें प्रणाम नहीं है—*'चहुँ दुआर लागे कपि नाना॥'* (७१। ९) तब *'ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा॥'* (७३। ३)

☞ प्रणामके साथ प्राय: प्रभुप्रतापका स्मरण और भरोसा भी जयके लिये आवश्यक है, यह पूर्व दिखाया गया है। दोहा ५१ देखिये।

जाइ कपिन्ह सो* देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥ १॥
कीन्ह कपिन्ह† सब यज्ञ बिधंसा। जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा॥ २॥

अर्थ—वानरोंने जाकर उसे देखा कि वह बैठा हुआ रुधिर और भैंसेकी आहुति (अग्निमें) दे रहा है॥ १॥ वानरोंने सब यज्ञ विध्वंस कर दिया। (फिर भी) जब वह न उठा तब वे उसकी सराहना करने लगे॥ २॥

नोट—*'जाइ कपिन्ह सो देखा.........'* इति। प्रथम आज्ञा वानरोंको यज्ञ विध्वंस करनेकी थी, अत: लक्ष्मणजीको बाहर खड़ा करके उन्होंने यज्ञशालामें जाकर यज्ञ विध्वंस किया।

आ० रा० में लिखा है कि **'गरुडास्त्रेण सर्पांश्च पर्वतास्त्रेण दंष्ट्रिण:। अनलं शान्तमकरोत्पर्जन्यास्त्रेण लक्ष्मण:॥ प्राशयामास हनुमाननिलं क्षणमात्रत:। जलं संशोषयामास वायव्यास्त्रेण लक्ष्मण:॥ परिघेष्वपि नष्टेषु तत्राऽदृष्ट्वा रिपो: स्थलम्। ययावुत्पाटितुं क्रोधाद्धनुमान्योगिनीवटम्॥ तदा तं दर्शयामास वटस्था योगिनी गुहाम्। गुहापिधानपाषाणं हनूमान् पादघट्टनै:॥ चूर्णीकृत्य गुहासंस्थं मेघनादं व्यतर्जयत्। तदा स मेघनादोऽपि त्यक्त्वा होमं त्वरान्वित:॥ क्रोधाविष्टो रथे स्थित्वा ययौ लक्ष्मणसम्मुखम्।'** (आ० रा० १। ११। १८१—१८६) (अर्थात्) मेघनादने अपनी यज्ञशालाको गुप्त रखा था। उसने वटवृक्षतक पहुँचनेके मार्गको भी सर्प, हाथी, अग्नि, वायु और जल—इन पाँचके फाटकोंसे ढक रखा था। इसका भेद विभीषणने बताया। इसपर लक्ष्मणजीने गरुडास्त्रसे साँपोंको, पर्वतास्त्रसे हाथियोंको, पर्जन्यास्त्रसे अग्निको शान्त किया, हनुमान्‌जीने क्षणमें हवाको पी लिया और लक्ष्मणजीने वायव्यास्त्रसे जल सोख लिया। इन फाटकोंके टूट जानेपर शत्रुकी जगह देख

* देषा सो। † तब कीसन्ह कृत।

पड़ी। क्रोधसे आतुर हो हनुमान्‌जी तुरंत योगिनी वटको उपाड़ने चले तो उसी समय वहाँ वटमें ही योगिनी गुहा देख पड़ी। लात मारकर उसके पत्थरके ढकनेको चूर्ण करके उसके भीतर (जाकर) उन्होंने मेघनादको ललकारा। तब मेघनाद भी होम छोड़कर तुरंत क्रोधमें भरा रथपर बैठ लक्ष्मणजीके सामने आया।

अ० रा० में भी लिखा है कि बड़ी भारी सेना रक्षामें थी, जिससे मेघनाद दिखायी न देता था। विभीषणजीने लक्ष्मणजीसे उसका नाश करनेको कहा। यथा—'**यदेतद्राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते। अस्यानीकस्य महतो भेदने यत्नवान् भव॥**' (९। १४) अतः श्रीलक्ष्मणजी बाहर खड़े हुए रक्षकोंका नाश करते रहे, यह आगेके *'लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आए जहँ रामानुज आगे॥'* से स्पष्ट है। वाल्मी० ८६ में और अ० रा० ९ में भी मेघनादका सेनाको विकल देख बिना यज्ञ किये उठ आकर युद्ध करना लिखा है। यथा—'**स्वमनीकं विषण्णं तु श्रुत्वा शत्रुभिरर्दितम्। उदतिष्ठत दुर्धर्षः स्वकर्मण्यननुष्ठितः॥**' (१४)

नोट—२ यज्ञ कैसे विध्वंस किया, यह वैसा ही समझिये जैसा रावण-यज्ञ-विध्वंसमें हुआ। दोहा ८४ छन्द देखिये। हनुमन्नाटकका मत है कि अग्निसे रथ निकलने लगा था, उसी समय यज्ञ-विध्वंस किया गया। '**शत्रुञ्जये रथवरेऽर्धसमुद्गतेऽग्नेर्यज्ञं बभञ्ज तरसा हनुमानुपेत्य।**' (१२। १८) इतनेमें हनुमान्‌जीने शीघ्र प्राप्त होकर उस शत्रुदमनकारी रथश्रेष्ठ शत्रुञ्जय नामक रथको अग्निसे आधा ऊपर आते ही यज्ञको विध्वंस कर डाला॥

नोट—३ *'**करहिं प्रसंसा**'* अर्थात् कि तू तो बड़ा वीर है, इन्द्रको तूने जीता। अरे! वीर होकर हमसे डरता है, हमारी ललकारपर भी बैठा है।—यहाँ प्रशंसामें भी निन्दा प्रकट होती है—'व्याजनिन्दालङ्कार' है।

तदपि न उठै धरेन्हि कच जाई। लातन्हि हति हति चले पराई॥ ३॥
लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आए जहँ रामानुज आगे॥ ४॥
आवा परम क्रोध कर मारा। गर्ज घोर रव बारहिं बारा॥ ५॥
कोपि मरुतसुत अंगद धाए। हति त्रिसूल उर धरनि गिराए॥ ६॥

अर्थ—प्रशंसा करनेपर भी न उठा तब उन्होंने जाकर उसके बाल पकड़े और लातोंसे मार-मारकर भाग चले॥ ३॥ वह त्रिशूल लेकर दौड़ा। वानर भगकर वहाँ आये जहाँ आगे लक्ष्मणजी खड़े थे॥ ४॥ वह अत्यन्त क्रोधका मारा हुआ आया और भयंकर शब्दसे बारंबार गरजने लगा॥ ५॥ अङ्गद और हनुमान्‌जी कोप करके दौड़े। उसने छातीमें त्रिशूल मारकर दोनोंको पृथ्वीपर गिरा दिया॥ ६॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'लै त्रिसूल''''''''''आगे'* इति। लक्ष्मणजीको विभीषणने उस वट-वृक्षके नीचे खड़ा कर दिया था, जहाँ जाकर मेघनाद अन्तर्धान होता था और केवल बन्दर लोग वहाँ गये जहाँ वह यज्ञ कर रहा था। बन्दरोंने यज्ञ-विध्वंस तो कर दिया, पर मेघनादने अपना आसन नहीं छोड़ा। आसन न छोड़नेसे यज्ञकी त्रुटिका सम्मार्जन हो सकता था। अतः बन्दर लोग उसके आसन छुड़ानेके उपायमें लगे (यथा—*'लातन्ह हति हति चले पराई'*)। अन्तमें उसे आसन छोड़ना पड़ा। *'लै त्रिसूल धावा'* तब सब भागकर लक्ष्मणजीके यहाँ आ गये, जिसमें वह पीछा करता हुआ लक्ष्मणजीके सामने आ जाय। लक्ष्मणजीको वह स्थान छोड़ना न पड़े, फलतः मेघनादको वहाँसे अन्तर्धान होनेका अवसर न मिले और लक्ष्मणजीका सामना हो जाय।

नोट—*'गरज घोर रव''''''''''*' अर्थात् प्रलयकारक काले मेघोंके समान ध्वनिसे गरजता था, यथा—*'गंभीर काल जलदध्वनिरुज्जगर्ज'* (हनु०)।

प्रभु कहँ छाड़िसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा॥ ७॥
उठि बहोरि मारुति जुबराजा। हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा॥ ८॥

शब्दार्थ—**बाजना**=लगना, आघात पहुँचना।

अर्थ—तदनन्तर उसने प्रभु (लक्ष्मणजी) पर प्रचण्ड त्रिशूल छोड़ा (चलाया)। अनन्त भगवान् लक्ष्मणजीने बाण मारकर उसके दो टुकड़े कर दिये॥ ७॥ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअङ्गदजी फिर उठकर क्रोध करके उसे मारने लगे, पर (उसे) घाव न लगा॥ ८॥

नोट—'*हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा*' इति। रावण तो घूँसेसे गिर-गिर पड़ा और मेघनादको कुछ असर न हुआ। बं० पा० जी कहते हैं कि 'लक्ष्मणजीके शूरत्वकी उत्कृष्टता दिखानेके लिये इन वीरोंकी न्यूनता गायी गयी'। यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है। गौड़जीका भी यही मत है। वे अपनी भूमिकामें कहते हैं कि इसका सामान्यरूपसे समाधान तो इस प्रकार है कि 'यदि एक ही ओरकी विजय-वर्णन की जावे तो रणकी वास्तविक शोभा नहीं होती। वीररस फीका-सा पड़ जाता है। निर्बल और सबलका संग्राम निरस होता है। इसीलिये रावणपक्षका भी उत्कर्ष दिखाया है।

मुख्य भाव गोसाईंजीका यह है कि लक्ष्मणजीने मेघनाद-वधकी प्रतिज्ञा की है, इसलिये अङ्गद, हनुमान्-जैसे योद्धाओंके मुकाबिलेमें मेघनादका उत्कर्ष दिखाकर फिर लक्ष्मणद्वारा उसका वध कराके लक्ष्मणजीका उत्कर्ष बढ़ाकर दिखाया जाय। इसलिये पहले मेघनादका उत्कर्ष दिखाया, फिर उसका वध लक्ष्मणजीद्वारा कराके वास्तवमें लक्ष्मणजीका उत्कर्ष बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। श्रीरघुनाथजीके भाईके मुकाबिलेमें महान् योद्धा ही आना चाहिये। देखिये, आगे जाकर राम-रावण-युद्ध प्रसङ्गमें लिखा है कि '*लछिमन कपीस समेत। भए सकल बीर अचेत॥*' यहाँ लक्ष्मणजीको भी विकल बताया, क्योंकि रावणपर रघुनाथजीकी विजय होती है। इसी भाँति यहाँ मेघनादका भी प्रसङ्ग है।' (प्र० सं०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी भी बहुत ठीक ही लिखते हैं कि 'जिस हनुमान्‌जीके एक घूँसेसे मेघनाद मूर्च्छित होता था (यथा—'*मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥*')। उसीको अङ्गद और हनुमान् दोनों वीर क्रोध करके मार रहे हैं, पर उसे चोट नहीं चढ़ती। कारण यह कि यद्यपि यज्ञ पूरा नहीं हुआ था, फिर भी जितना सम्पन्न हुआ था, उतनेसे ही उसमें इतनी बल-वृद्धि हो गयी थी कि इन लोगोंके प्रहारसे वह घायल नहीं हुआ।' इनके मतकी पुष्टि हनुमन्नाटकके पूर्वोक्त उद्धरणसे होती है। विजयरथ अग्निसे आधा ऊपर आ चुका था, जब यज्ञ विध्वंस हुआ था। यह प्रायः पूर्तिको पहुँच गया था। इतने परिश्रमका फल उसे मिला ही चाहे।

फिरे बीर रिपु मरै न मारा। तब धावा करि घोर चिकारा॥ ९॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला। लछिमन छाँड़े बिसिख कराला॥ १०॥
देखिसि आवत पबि सम बाना। तुरत भएउ खल अंतरधाना॥ ११॥
बिबिध बेष धरि करै लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥ १२॥

अर्थ—जब वीर योद्धा मुड़ चले कि शत्रु मारे नहीं मरता, तब वह बड़ी जोरसे चिग्घाड़कर दौड़ा॥ ९॥ मानो क्रोधित काल हो, इस प्रकार उसे आते देख श्रीलक्ष्मणजीने कठिन बाण छोड़े॥ १०॥ वज्रसमान बाण आता देख वह दुष्ट तुरंत अन्तर्धान हो गया॥ ११॥ तथा अनेक वेष बना-बनाकर (अनेक प्रकारके रूप धारण कर-करके) लड़ाई करने लगा, कभी प्रकट होता था और कभी छिप जाता था॥ १२॥

नोट—'*फिरे बीर.........कराला*' इति। मिलान कीजिये—'**हरीनभ्याहनत्क्रुद्धः परं लाघवमास्थितः। ते वध्यमाना हरयो नाराचैर्भीमविक्रमैः॥ सौमित्रिं शरणं प्राप्ताः प्रजापतिमिव प्रजाः। ततः समरकोपेन ज्वलितो रघुनन्दनः॥**' (वाल्मी० ६। ९०। १६-१७) अर्थात् बड़ी शीघ्रतासे धनुषपर बाण चढ़ाकर, क्रोधकर वह वानरोंको विध्वंस करने लगा। बाणोंकी मारसे व्याकुल हो वानर लक्ष्मणजीकी शरण गये, जैसे प्रजा प्रजापतिकी शरण जाय। तब रघुनन्दन लक्ष्मणजीको कोप हुआ। यहाँ अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

नोट—लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध वाल्मी० ८६ से ९१ तक है।

देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भएउ अहीसा॥ १३॥
लछिमन* मन अस मंत्र दृढ़ावा। एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा॥ १४॥

* 'एहि पापी मैं बहुत खेलावा। अब बध उचित कपिन्ह भय पावा॥'—(का०)।

अर्थ—अजय (न जीते जाने योग्य) शत्रु देखकर वानर डरे तब अहीश (शेष) परम क्रोधित हुए॥ १३॥ लक्ष्मणजीने मनमें ऐसा विचार निश्चय किया कि इस पापीको मैंने बहुत खेलाया (बढ़ने दिया)॥ १४॥

पं०—*'अहीसा'* का भाव कि जैसे सर्प क्रोध करता है वैसे कोप किया। *'बहुत खेलावा'* का भाव कि ये ईश्वर हैं इनकी दृष्टिमें सब व्यवहार खेल है और इस खेल एवं खेलनेवालोंमें शक्ति भी इनकी ही है।

रा० प्र०—क्रोधकी अधिकता दिखानेके लिये 'अहीश' कहा। अहीश अर्थात् वासुकी आदिके नियन्ता ईश। *'खेलावा'* अर्थात् जैसे मछलीको बंसीसे शिकार करनेवाले खेलाते हैं। यथा—*'जनु बंसी खेलत चित दए॥'* (८७। ५)

नोट—*'अहीसा'* शब्द देकर यहाँ उस कल्पका अवतार भी कह दिया जिसमें शेषजी लक्ष्मण होते हैं। इससे जनाया कि उन्होंने अपने अवतारी स्वरूपका स्मरण किया—*'जो सहससीस अहीसु महिधरु लखन सचराचर धनी॥'* (२। १२६), *'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।'''''''त्रिभुवन धनी॥'* (८२ छं०) अत: उन्होंने कालके समान क्रोध किया। *'परम क्रुद्ध तब भएउ अहीसा।'* स्वरूपका स्मरण करते ही क्रोध आया तब इस विचारका स्फुरित होना उचित ही है कि *'एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा।'* सचराचरधनी त्रिभुवनपतिका एक क्षुद्र राक्षसको इतनी देरतक अपने साथ लड़ने देना खेल करना ही है।

सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा॥ १५॥
छाँड़ा* बान माझ उर लागा। मरती बार कपट सब त्यागा॥ १६॥

अर्थ—कोशलपति श्रीरामजीका प्रताप स्मरण कर दर्पित होकर उन्होंने बाणका संधान किया अर्थात् धनुषमें लगाकर लक्ष्य ठीक किया॥ १५॥ और बाण छोड़ा जो उसकी छातीमें लगा। मरते समय उसने सब कपट छोड़ दिया॥ १६॥

नोट—१ *'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा।''''''''॥'* इति। श्रीरामप्रतापका बल हृदयमें आते ही मनुष्यमें बल, उत्साह और कार्यसिद्धिमें अधिक दृढ़ विश्वास हो जाते हैं। प्रतापका बल पाकर भक्तोंमें सात्त्विक अभिमान बढ़ जाता है। तब भक्त बड़े दुर्गम कार्योंको भी खेल समझकर प्रतिज्ञा करके कर डालनेमें समर्थ हो जाता है। *'सुमिरि प्रताप'* और *'करि दापा'* में यही भाव दर्शित किया है। ४३ (१—३) देखिये॥ वाल्मी० ९०। ६८-६९ और अ० रा० ९ में लक्ष्मणजीने बाण संधानकर ये वचन कहे हैं कि 'यदि दाशरथि राम धर्मात्मा, सत्यसंध और पौरुषमें अप्रतिद्वन्द्व हैं तो हे बाण! तू रावणपुत्र मेघनादका नाश कर' यथा—**'धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि। पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम्॥'** (६९) (अ० रा० में **'पौरुषे च'** के बदले **'त्रिलोक्याम्'**) है, शेष सब यही है। यही प्रतापका स्मरण और दर्पके वचन हैं। यह बाण रामनामांकित था, यथा—**'लक्ष्मणोऽपि शरं दिव्यं रामनामाङ्कितं शुभम्॥'** (आ० रा० १। ११। १९३)

नोट—२ प्रभु-प्रतापके बलपर ही भक्त प्रतिज्ञा करते और शत्रुको कुछ न समझ उसपर क्रोध करते हैं, यथा—

(क) *'तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ। जो न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥'* (१। २५३)

(ख) *'समुझि रामप्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥'* (३३। ८)

(ग) *'जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर। राम प्रताप सुमिरि उर अंतर॥'* (४१। १)

(घ) *'जानत परम दुर्ग अति लंका। प्रभु प्रताप कपि चले असंका॥'* (३८। ९) इत्यादि। वैसे ही यहाँ *'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा॥'*

नोट—३ (क) *'कपट सब त्यागा'* कपट रहते प्रभु अपनाते नहीं, अत: कपटका छोड़ना कहा। इसी प्रकार मारीच और कालनेमि (जिन्होंने तो स्पष्ट ही कपट-छल किया था) के मरण-समय कपटका त्याग कहा

* छाड़ेउ—(का०)।

है—५७ (५-६) देखिये। (ख) पं०—कपटका स्थान हृदय है, बाणने जाकर हृदयको ही बेधा, अतः कपट छूट गया। वा, मेघनाद जानता था कि ये ईश्वर हैं, पर पिताकी आज्ञा एवं राक्षस-स्वभावसे शत्रुभाव रखा था। (ग) *'सब'* क्या? मन, वचन, कर्म तीनोंके कपटका त्याग कर दिया। रावणकी तरह इसने शरीर न बढ़ाया।

दो०—रामानुज कहँ रामु कहँ अस कहि छाड़ेसि प्रान।
धन्य धन्य तव जननी* कह अंगद हनुमान॥ ७५॥

अर्थ—रामानुज कहाँ हैं? राम कहाँ हैं? ऐसा कहते हुए उसने प्राण छोड़े। अङ्गद और हनुमान्‌जी बोले कि तेरी माता धन्य है! धन्य है!॥ ७५॥

नोट १—*'रामानुज कहँ रामु कहँ'* ये वचन रणोत्साहमें डूबे हुए हृदयके हैं। तात्पर्य कि वे कहाँ हैं, मैं उनको मारूँ। ऐसा ही रावणने कहा है—*'कहाँ राम रन हतौं प्रचारी।'* ☞ पर प्रभु इसको भी हृदयका स्नेह समझते हैं, और इसीसे अन्त समय किसी तरह भी नामका स्मरण होनेसे मुक्ति देते हैं। यथा—*'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥'* (३। ३१। ६), *'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान॥'* (३। २०)

नोट—२ माताको धन्य कहा क्योंकि—(क) उसने ऐसा पुत्र जना जो श्रीराम-लक्ष्मणका स्मरण करते हुए मरा। (बं० पा०) (ख)—वीरभावसे शरीर छोड़ा। बड़े-बड़ोंकी वीर माताओंकी अभिलाषा यही रहती है कि प्राणपयानके समय हमारे पुत्रमें कायरता न आवे। † (रा० प्र०, पु० रा० कु०) (ग) माताको धन्य कहा क्योंकि वह भक्त है। उसके प्रभावसे इसके मुखसे अन्त समय भगवन्नाम निकला। वह भगवत्-परायण हुआ। अतः उसको धन्य कहा। (पं०) (घ) पिताके वीर्य-दोषसे उसने इतना अपराध किया और वीर्य-प्रभावसे ही वह रणमें स्थिर रहा, अन्तमें माताके रजका पुण्य उदय हुआ जिसके प्रभावसे शरणापन्न हो भवसे छूटा। (मा० म०)

नोट—३ अङ्गद और हनुमान्‌ने ही धन्य कहा, क्योंकि ये दोनों स्वयं बड़े वीर हैं, वीरोंकी-सी मृत्यु देख इनने सराहना की। इन दोनोंसे मेघनादका बारम्बार सामना हुआ है, इससे ये दोनों उसकी वीरताको जानते हैं, अन्य वानर वैसा नहीं जानते।

वि० त्रि०—जब बन्दरोंने लङ्काको घेर लिया तो राक्षसोंने फाटक बन्द करके किलेके भीतरसे लड़ाई आरम्भ की। मेघनाद ही पहिला वीर था जो फाटक खोलकर बाहर निकला (यथा—*'निकरि दुर्ग ते बीरवर सनमुख चला बजाइ'*) और ललकारता चला *'कहँ कोसलाधीश दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'* और उसी भाँति ललकारता हुआ ही प्राण-त्याग करता है। *'रामानुज कहँ रामु कहँ।'* उसकी वीरताको इस भाँति निबहता देखकर वीर शिरोमणि अङ्गद-हनुमान् फड़क उठे, कहने लगे कि तेरी वीर जननीको धन्य है।

नोट—४ मारीचने वध-समय पहिले श्रीलक्ष्मणजीका फिर श्रीरामजीका नाम लिया था, पर वहाँ ऐसा करनेका भाव स्पष्ट था कि जिसमें लक्ष्मणजीका नाम सुनकर श्रीजानकीजी उनको वहाँसे भेज दें। फिर मुक्तिके लिये रामस्मरण मनमें किया था। पर यहाँ लक्ष्मणजीसे ही दोनों बार युद्ध हुआ है, इन्हींके हाथोंसे उसका वध हुआ और ये ही सामने उपस्थित हैं, अतः इनका नाम प्रथम मुँहसे निकलना स्वाभाविक ही है। करु० और वै० का मत है कि लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य माने गये हैं। आचार्य बिना मुक्ति नहीं होती—*'गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई।'* अतः पहिले उनका नाम लेकर उनकी शरणमें प्राप्त हुआ, फिर राम-नाम लेकर मुक्त हुआ। और पं० का मत है कि 'मेघनादने प्रथम बार इनको शक्ति मारी थी, उस अवज्ञाके क्षमार्थ उनका नाम प्रथम लिया। पर यदि यह शङ्का हो कि रामजीकी भी अवज्ञा नागपाशबन्धनद्वारा की थी तो इसका समाधान यह कर लें कि *'रामानुज'* शब्दमें 'राम' शब्द आदिमें है ही, इस तरह उनका नाम प्रथम भी है।

---

* 'धन्य सक्रजित मातु तव'—(का०)

† 'यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः। अक्षयं लभते लोकं यदि क्लीबं न भाषते॥'

नोट—५ श० सुं०—यहाँ मूलमें *'कहँ'* पाठ लिखा है। कई पुस्तकोंमें 'कह' लिखा है अर्थात् लक्ष्मणको स्मरण कर फिर रामचन्द्रको स्मरण कर उसने प्राण छोड़े; परन्तु ऐसा करनेमें *'अस कहि'* शब्द व्यर्थ होता है, इसलिये *'कहँ'* वाला पाठ और अर्थ ठीक है।

बिनु प्रयास हनुमान उठायो*। लंका द्वार राखि पुनि आयो†॥ १॥
तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा। चढ़ि बिमान आए नभ सर्बा॥ २॥

अर्थ—बिना परिश्रमके ही हनुमान्‌जीने उसे उठाया और लङ्काके दरवाजेपर उसे रखकर फिर लौट आये॥ १॥ उसका मरण सुनकर देवता और गन्धर्व सभी विमानोंमें चढ़कर आकाशमें आये॥ २॥

नोट—१ *'बिनु प्रयास हनुमान उठायो………।'* इति। भाव कि (क) इसका शरीर बड़ा था तब भी हनुमान्‌जीको श्रम न हुआ। (पं०) वा०, (ख)—तू तो लक्ष्मणजीको उठाकर लङ्का ले जाना चाहता था और हम तुझे तेरे बापके पास ही पहुँचाये देते हैं कि तुझे देखकर छाती ठंढी कर ले और तेरे जिलानेका उपाय कर सके तो करे। वा, (ग)—तू तो लक्ष्मणजीको ही न उठा सका था और मैं तुझको बिना परिश्रम उठा रहा हूँ। वा, (घ) मेघनादने स्वयं लक्ष्मणजीको उठाना चाहा और साथ ही अनेक और योद्धाओंने उठाना चाहा पर न उठा सके और यहाँ अकेले एक लक्ष्मणजीके सेवक हनुमान्‌जीने उठा लिया। (बं० पा०)

नोट—२ लङ्का-द्वारपर रख आये, जिसमें रावणको शीघ्र ही इसके वधकी खबर मिल जाय और उसे शोक प्राप्त हो। वा, भाव कि ले देख, जिसके बलका तुझे गर्व था उसकी क्या गति हुई, अब भी समझ जा। बं० पा० जी लिखते हैं कि—'लङ्काद्वारपर रख आनेका भाव यह है कि—इसकी दाहादि क्रिया रावण कर ले। दूसरे, यह कि मूर्छित लक्ष्मणजी लङ्कामें न आये, उनको कोई न ला सका था, उनके बदले मृतक मेघनादको मैं लाया हूँ, इसे ले।—यह शत्रुके कर्मका उत्तर दिया। गौड़जी अपनी भूमिकामें लिखते हैं कि 'इस कर्मसे रामदलके अभयत्व और वीरत्वका दिग्दर्शन कराया गया है और लङ्काके रावणदलकी हीनता दिखायी है। मेघनादको कुम्भकर्णकी तरह लङ्कामें फेंकनेकी आवश्यकता अब इससे न थी कि फेंकनेकी बात एक बार जाम्बवंतद्वारा दिखायी जा चुकी है।

पं०—भाव कि जैसा लक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेसे हमारे कटकमें शोक हुआ था वैसा ही दु:ख आज लङ्कामें घर-घर हो। वा, कहीं मरण सुनकर लज्जाके मारे शरीर लेने (वा, युद्ध करने) न आवे तो कम-से-कम उसका शरीर देख तो ले कि क्या दुर्दशा हुई। वा, मृतकको नगरमें न ले जाना चाहिये, इससे द्वारपर रख आये।

नोट—३ हनुमान्‌जी उठाकर ले गये। एक तो दुष्कर कर्म करनेमें ये सबसे अग्रगण्य हैं। जो काम देखिये उसे सबसे शीघ्र करनेमें दूसरा इनके समान नहीं। दूसरे, मेघनादका शरीर उठाकर लङ्काद्वारपर ले जाना सहज नहीं था कि सभी कर लेते। अत: ये ले गये। तीसरे, हनुमान्‌जीको यह बाँधकर रावणके समीप ले गया था, उसका बदला यहाँ इन्होंने दिया।—*'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा।'* चौथे, मेघनाद-द्वारा हनुमान्‌जीकी अभिलाषा पूरी हुई थी कि वे रावणतक पहुँच सके; अत: इन्होंने मेघनादका शव वहाँ पहुँचाया कि इसका अपमान यहाँ रणभूमिमें न हो, इसका मृतक कर्म भी यथोचित किया जा सके।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—सरकारने कुम्भकर्णवधके बाद उसके सिरको रावणके पास पहुँचा दिया। वही उसका प्रधान दाही (शोक करनेवाला) था। भाव यह कि **'मरणान्तानि वैराणि'** इस पुरुषसे मेरा वैर समाप्त हो गया, यह उसका उत्तमाङ्ग है, अब आगेकी कार्यवाही जैसा उचित समझो करो। यहाँ मेघनादवध होनेपर सरकारकी परिपाटीका अनुसरण करना ही ठीक समझा गया। मेघनाद हृदयमें बाण लगनेसे मरा। मरेपर शस्त्र चलाना उचित नहीं, अत: उसके पूरे शवका भेज देना उचित समझा गया। शव इतना भारी था कि दूसरा कोई उसे उतनी दूर नहीं ले जा सकता था। अत: हनुमान्‌जी उसे उठाकर लङ्काद्वारपर रख आये और वहींतक ऐसे समयमें उनका जाना उचित भी था।

---

* हनुमंत उठावा। † तेहि आवा—(का०, मा० म०)।

नोट—४ '*सुर सर्बा*' इति। इससे जनाया कि मेघनादके डरसे '*सब*' देवता कभी न आये थे, आज आये। नोट—५ '*सुनि*' से सूचित किया कि युद्धके समय ये अदृश्यरूपसे भी मौजूद न थे, देवलोकमें ही थे। जब सुना कि वह मारा गया तब आये।

बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं॥ ३॥
जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥ ४॥

शब्दार्थ—**निस्तारा**=छुटकारा, उद्धार किया, बचाया।

अर्थ—फूल बरसाकर नगाड़े बजाते हैं और श्रीरघुनाथजीका निर्मल यश गाते हैं॥ ३॥ हे अनंत! आपकी जय! हे जगत्‌के आधार! आपकी जय! हे प्रभो! आपने सब देवताओंका उद्धार किया॥ ४॥

नोट—१ '*बरषि सुमन*.........' इति। मिलान कीजिये—'**ततः प्रमुदिता देवाः कीर्तयन्तो रघूत्तमम्। ववर्षुः पुष्पवर्षाणि स्तुवन्तश्च मुहुर्मुहुः॥**' (अ० रा० ९। ४८), पुनश्च, '**जगाम निहते तस्मिन्राक्षसे पापकर्मणि॥ आकाशे चापि देवानां शुश्रुवे दुन्दुभिस्वनः। नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभिः॥ ववर्षुः पुष्पवर्षाणि**.........।' (वाल्मी० ९०। ८४—८६) जैसे अ० रा० में '*रघूत्तमम्*' है वैसे ही मानसमें '*श्रीरघुनाथ*' हैं।

पु० रा० कु०—'*श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं*' इति। विजय तो श्रीलक्ष्मणजीने की और यश श्रीरघुनाथजीका, यह कैसा? उत्तर—(क) श्रीलक्ष्मणजी सेवक हैं, इससे स्वामीकी प्रधानता है। वा, (ख)—श्रीरामजीका ही प्रताप वधमें मुख्य कारण है, यथा—'***सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा॥***' यह होते ही मेघनादवध हुआ। वा, (ग) '*रघुनाथ*'-पदसे लक्ष्मणका ग्रहण कर लें।—[राम, लक्ष्मण दोनों ही रघुवीर हैं, यथा—'**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ**.........।' (मं० श्लो० कि०) अनन्त और जगदाधार दोनों विशेषण पूर्व ही शक्ति-प्रसङ्गमें इनके ही लिये आ चुके हैं। '*प्रभु*' पद भी इनके लिये कविने अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है, यथा—'***प्रभु कहँ छाड़ेसि सूल प्रचंडा।***' (७५। ७), '***तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।***' (अ०। ७५)]

गौड़जी—रघुपतिविमलयशकी पताकाको फहरानेवाला दण्ड श्रीलखणलालजीका यश है, जैसे दण्ड और पताका अभिन्न हैं, बल्कि दण्ड आधार है और पताका आधेय। उसी तरह रघुनाथविमलयशका आधार लक्ष्मणजीका यश है, इसीलिये यहाँ लक्ष्मणजीके यशोगानद्वारा ही रघुनाथ-विमल-यशोगान अभिप्रेत है। '***रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका॥***'

नोट—२ '*जय अनंत*.........*।*' अनन्त हैं अतएव आपकी महिमा कोई क्या कह सके? जगत् आपके आश्रय टिका हुआ है अतः आपने इसका वध करके जगत्‌की रक्षा की।—विशेष दोहा ५३ देखो। '***सब देवन्ह निस्तारा।***' भाव कि मेघनाद-वध सबसे कठिन था, रावण-वध इतना कठिन नहीं है। इसका वध होनेसे मानो रावण मरा ही हुआ है। अब सब देवता निर्भय होकर सुखकी नींद सोवेंगे। यथा—'**ऊचुश्च सहितास्तुष्टा देवगन्धर्वदानवाः। विज्वराः शान्तकलुषा ब्राह्मणा विचरन्त्विति॥**' (वाल्मी० ९१। ८९) अर्थात् सब देवता, दानव, गन्धर्वादि मिलकर कहते हैं कि अब ब्राह्मण विज्वर हुए, उनके हृदयके दुःख बीते, निश्चिन्त जहाँ चाहें अब विचरें। ऐसा ही रावणने भी कहा है, यथा—'**अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः। हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः॥**' (वाल्मी० ९३। १०)

अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाए। लछिमन कृपासिंधु पहिं आए॥ ५॥

अर्थ—स्तुति करके देवता और सिद्ध (सब) चले गये तब लक्ष्मणजी दयासागर श्रीरामजीके पास आये॥ ५॥

☞ अ० रा० और वाल्मीकीयका मत है कि यह युद्ध तीन दिन, तीन रात्रि बराबर होता रहा। यथा—'**अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरा कथंचिद्विनिपातितः। निरमित्रः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः॥**' (वाल्मी० ९२। १६) अर्थात् श्रीरामजी बोले कि तीन दिन-रात युद्ध करके उसे मारकर हमको शत्रुरहित कर दिया। पर मानसके मतसे एक ही दिनमें यह युद्ध समाप्त हुआ। लक्ष्मणजीकी प्रतिज्ञा है कि 'आज ही' उसे मारूँगा—'***जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं।***.........*॥*'

नोट—'*कृपासिंधु*' इति। इस विशेषणसे जनाया कि—(१) आपकी असीम कृपासे मेघनाद मारा गया। यथा—'**आजगाम ततः शीघ्रं यत्र सुग्रीवराघवौ।**' (वाल्मी० ९२। ३), '**त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हतो रावणिराहवे।**' (५४), '**साधु लक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्म ते दुष्करं कृतम्। मेघनादस्य निधने जितं सर्वमरिन्दम॥**' (अ० रा० ९। ५६) (२) रघुनाथजी उनपर बहुत प्रसन्न हुए, उनको हृदयसे लगाया, उनका आश्वासन किया, गोदमें बिठाया, इत्यादि जो वाल्मी० ९२ श्लोक ३ से २० तक वर्णित है, वह सब इस पदसे जना दिया।

पु० रा० कु०—यहाँ पूर्व अवरोधको मिटाते हैं। पूर्वके वचन ये हैं—'*जो तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥*'

गौड़जी—देवों-सिद्धोंने श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति की, क्योंकि उनके निकट दोनों '*रघुबरौ*' में कोई भेद नहीं है। परन्तु लक्ष्मणजी तो अपनेको कृपासिन्धुका कृपापात्र सेवक ही मानते हैं और वह स्तुतियाँ स्वामीकी ही समझकर चुपचाप उन कृपासिन्धुके चरणोंमें पहुँच जाते हैं, जिनकी कृपासे शपथ पूरी हुई।

सुत बध सुना दसानन जबहीं। मुरुछित भएउ परेउ महि तबहीं॥ ६॥
मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी॥ ७॥
नगर लोग सब ब्याकुल सोचा। सकल कहहिं दसकंधर पोचा॥ ८॥

अर्थ—ज्यों ही दशमुखने पुत्रवधका समाचार सुना त्यों ही मूर्छित होकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ६॥ मन्दोदरी बड़ा विलाप करने लगी। बहुत तरहसे उसका नाम पुकार-पुकार शोकसे चिल्लाकर छाती पीटती है॥ ७॥ सब पुरवासी शोकसे व्याकुल हैं, सभी कहते हैं कि दशकंधर नीच है॥ ८॥

नोट—१ '*सुत बध सुना*.........' इति। मन्त्रियोंने जाकर बताया। यथ—'**ततः पौलस्त्यसचिवाः श्रुत्वा चेन्द्रजितो वधम्। आचचक्षुरभिज्ञाय दशग्रीवाय सत्वराः॥**' (वाल्मी० ९२। १) नोट—२ अक्षकुमारादि पुत्र रावणको इतने प्रिय न थे जैसा मेघनाद। इसीसे उनके वधपर विषादमात्र हुआ—'*सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद।*' (सुं० २०), '*सो सुनि रावन भएउ दुखारा।*' (३४। १२) और, यह माता-पिता दोनोंका अत्यन्त प्यारा था, इससे इसके वधपर रावण तो मूर्च्छित ही हो गया और मन्दोदरीने भी बड़ा विलाप किया। नोट—३'*उर ताड़न बहु भाँति पुकारी।*' '*रोवहिं नारि हृदय हति पानी*.........।' (७१। ५) देखिये। नोट—४ '*नगर लोग सब ब्याकुल सोचा।*.........' इति नगरवासियोंका सोच इस प्रकार वाल्मी० ९५ में वर्णित है कि इसने किसीका कहा न माना। चोरीसे सीताहरण किया, कुम्भकर्णादि मारे गये, प्रिय पुत्र मारा गया, तब भी यह अंधा है, इसे बोध नहीं होता। इस दुर्बुद्धि, नीच, दुर्विनीतको अन्यायसे ही यह शोक प्राप्त हुआ है। विशेष '*सब मिलि देहि रावनहि गारी।*.........' (४१। ५) देखिये। वहाँ विस्तारसे लिखा जा चुका है।

दो०—तब दसकंठ बिबिध बिधि* समुझाई सब नारि।
नस्वर रूप जगत† सब देखहु हृदय बिचारि॥ ७६॥

अर्थ—तब रावणने अनेक प्रकारसे सब स्त्रियोंको समझाया और कहा कि तुम मनमें विचार देखो तो यह सारा जगत् ही नाशवान् है॥ ७६॥

नोट—१ '*तब*' अर्थात् जब स्त्रियोंका विलाप सुननेपर मूर्च्छा दूर हुई तब। नोट—२ '*बिबिध बिधि।*' रावणने ज्ञानोपदेश दिया—'*तिन्हहिं ज्ञान उपदेसा रावन।*' जैसा ज्ञानोपदेश ताराको दिया गया वैसा ही यहाँ समझिये—कि० ११ (३—६) देखिये। अर्जुनजीको भगवान्ने जो उपदेश गीता अध्याय २ में किया है, वह भी यहाँ उपयुक्त है—

'**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥**' (गीता २। २७)

* तब लंकेस अनेक बिधि। † प्रपंच सब—(का०, मा० म०)।

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥' (गीता २। २०)
'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥' (गीता २। २२)

जिसका जन्म हुआ वह अवश्य मृत्यु पावेगा और जो मरा उसका जन्म निश्चित है। इसमें किसीका वश नहीं चलता। अतः शोच करना अयोग्य है। यदि इसे नित्य मानो तो—यह न तो कभी जन्मता है, न मरता है, यह तो अजन्मा, नित्य, सनातन है, शरीरके मरनेपर भी इसका नाश नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये पहनता है वैसे ही जीर्ण शरीरको छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस तरह भी शोक अयोग्य है। पुनः, यथा—*'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥ काल कर्म बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥'* (अ० १५०)

शीला—*'दसकंठ'* का भाव कि इसका ज्ञान पक्षी-(तोता-मैना-) का-सा है जो पढ़ता, है उसका बोध स्वयं उसको नहीं होता है। 'दश' पक्षीको भी कहते हैं। पक्षीकण्ठरूपी ज्ञान इसे है। मुँहसे कहता है, पर समझता नहीं।

तिन्हहि ज्ञान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा सुभ पावन*॥१॥
पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥२॥

अर्थ—रावणने उनको ज्ञानोपदेश किया। वह स्वयं तो नीच है पर कथाएँ कल्याणकारी और पवित्र हैं (जो उसने कहकर समझाया)॥ १॥ (सच है) दूसरोंको उपदेश देनेमें तो बहुत लोग निपुण होते हैं पर ऐसे लोग बहुत नहीं हैं जो (स्वयं) उसपर चलते हों॥ २॥

नोट—१ दूसरोंको ज्ञानोपदेश कि जगत् नाशवान् है, मधुकैटभ, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, खर-दूषणादि ही सब कालके वश हो गये तब औरोंकी क्या कथा! एक-न-एक दिन सबका नाश अनिवार्य है। पर वह स्वयं अभिमानवश अपनेको अमर माने बैठा है, यथा—*'नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची।'''''लिखा बिरंचि जरठ मति भोरें।'* (२९। २-३) अतएव *'मंद'* कहा। दोहा ८ (३-४) देखिये।

नोट—२ *'पर उपदेस''''''''''* इति। यथा—**'परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः। स्वभावमतिवर्तन्तः सहस्रेष्वपि दुर्लभाः॥', 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्। धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्सुमहात्मनः॥'** (सु० र० भा० ४, २६; सज्जनस्वभाव एवं प्रशंसा-वर्णन-प्रकरण) अर्थात् दूसरोंको उपदेश करनेमें बहुतेरे कुशल दीखते हैं, पर इस स्वभावसे ऊँचे बर्ताव करनेवाले सहस्रोंमें भी दुर्लभ हैं। दूसरोंको सिखानेमें पण्डिताई करना सभी मनुष्योंको सहज है पर अपने धर्ममें दृढ़तासे लगे रहना किसी-किसी ही महात्मामें पाया जाता है।

वीर—नीच बुद्धिके मुखमें ज्ञानोपदेशकी बातें! कारणके विरुद्ध कार्यका प्रकट होना 'पञ्चम विभावना अलङ्कार' है।

मेघनाद-बल-पौरुष-संहार-प्रकरण समाप्त हुआ।

'निसिचर निकर मरन बिधि नाना। रघुपति-रावन-समर'-प्रकरण

निसा सिरानि भएउ भिनुसारा। लगे भालु कपि चारिहु द्वारा॥३॥
सुभट बोलाइ दसानन बोला। रन सन्मुख जाकर मन डोला॥४॥
सो अबहीं बरु जाउ पराई। संजुग बिमुख भए न भलाई॥५॥

शब्दार्थ—सिराना=चुकना, बीतना, यथा—*'सब सुख सुकृत सिरान हमारा।'* (२। ७०)

* भावन (ना० प्र०) अर्थात् अपने लिये बुरी बातें अच्छी लगती थीं।

अर्थ—रात बीती, सबेरा हुआ, रीछ-वानर चारों द्वारोंपर जा डटे॥ ३॥ सुभटोंको बुलाकर दशमुख बोला—जिसका मन संग्राम-भूमिमें जाकर सामना करनेपर डाँवाडोल हो (हिचकिचाये), वह अभी भले ही भाग जाय, नहीं तो रणसे विमुख होने- (मुँह फेरने-) पर भला न होगा॥ ४-५॥

नोट—१—(क) *'निसा सिरानि'* से जनाया कि विलाप और उपदेशमें सबेरा हो गया। (ख) *'लगे भालु कपि चारिहु द्वारा'* से जनाया कि रामदलका नियम है कि सबेरा हुआ नहीं कि लङ्कागढ़को घेरा। यथा—(१) *'घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी।'* (३८। १०) (२) *'करत बिचार भएउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥'* (४८। ८) (३) *'एहि बिधि जलपत भएउ बिहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना॥'* (७१। ९) (४) *'प्रात होत प्रभु सुभट पठाए। हनुमदादि अंगद सब धाए॥'* (८४। ४) तथा यहाँ भी। पर श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेके बाद और कुम्भकर्णयुद्ध प्रारम्भ होनेके पूर्व वानरोंका गढ़का सबेरे घेरना नहीं कहा गया। वहाँपर कुम्भकर्णका आगमन सुननेपर वानरोंका समरभूमिमें जाना कहा है, यथा—*'एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाए बलवाना॥'* इसके कारण ये हैं कि—(क) शक्ति लगनेपर सेना भयभीत हो गयी थी। वा, (ख)—कुम्भकर्णको जगानेमें समय लगा अतः लड़ाई कई दिन बंद रही। वा, (ग) कवि जब सबेरा होना कहते हैं तब वानरोंका गढ़को घेरना भी कहते हैं। वहाँ सबेरा होना न कहा, अतः वानरोंका द्वारपर जा लगना भी न कहा।

नोट—२ *'सो अबहीं बरु जाहु पराई।'* भाव कि अभी निकल जानेसे मैं वध न करूँगा। पर रणमें जाकर वहाँसे बिना जीते फिरे तो मैं वध करूँगा; क्योंकि इसमें मेरी हँसी होगी, कि ऐसे कादर वीरोंके बलपर इसे इतना गर्व रहा है। *'जो रन बिमुख फिरा मैं जाना।''''''''''॥'* (४१। ७) देखिये।

बं० पा०—*'संजुग बिमुख भए न भलाई'* भलाई न होगी, अर्थात् लोक-परलोक दोनों बिगड़ेंगे। बड़े-बड़े वीर लड़ाईमें मारे गये हैं, इससे योद्धा कादर न हो गये हों; यह समझकर उनको उत्साहित करनेके लिये रावणने ये वचन कहे हैं।

वि० त्रि०—*'सो अबहीं''''''''''भलाई'* इति। चारों फाटकोंकी लड़ाईमें जब निशिचर भागे तब रावण बहुत बिगड़े। *'जो रन बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना॥ सरबसु खाइ भोग करि नाना। समर भूमि भए बल्लभ प्राना॥'*; पर यहाँ छूट दे रहे हैं कि जिसका जी युद्धसे हिचकता हो वह इसी समय यहाँसे भाग जाय, समरभूमिसे भागनेमें भलाई नहीं है, क्योंकि संग्रामभूमिमें एक साथीको भागते देखकर दूसरोंका साहस छूट जाता है, सारी सेनामें भगदड़ मच जाती है। अब इसपर यदि कोई कहे कि इस भाँति छूट देनेसे तो बहुत-से सैनिक लड़ाईमें नहीं जायँगे, क्योंकि प्राण किसे प्यारा नहीं है। विशेषतः ऐसे समयमें जबकि देख रहे हैं कि बड़े-बड़े वीर युद्धमें गये और सब खेत रहे, तब युद्ध कैसे होगा। इसके उत्तररूपमें रावण कहता है कि *'निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा। देहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा॥'*

निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा। देहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा॥ ६॥
अस कहि मरुतबेग रथ साजा। बाजे सकल जुझाऊ बाजा॥ ७॥
चले बीर सब अतुलित बली। जनु कज्जल कै आँधी चली॥ ८॥

अर्थ—मैंने अपनी भुजाओंके बलपर वैर बढ़ाया है। जो शत्रु चढ़ आया है, उसे मैं (अकेला ही) उत्तर दूँगा॥ ६॥ ऐसा कहकर पवनसमान तेज चलनेवाला रथ सजाया। समस्त लड़ाईवाले बाजे बजने लगे॥ ७॥ अतुल बलवान् सब वीर योद्धा ऐसे चले, मानो काजलकी आँधी चली॥ ८॥

बं० पा०—*'देहौं उतरु''''''''''।'* इति। भाव कि यह न समझो कि मैं भाई और पुत्रके मरणसे दुःखी हूँ, क्योंकि यह तो शूरवीरोंका काम ही है। [वि० त्रि० जीके भाव पूर्व चौपाईमें देखिये।]

नोट—१ वाल्मी० ९३। २६—३० में जो उसने कहा है कि 'मैंने हजारों वर्ष तप करके ब्रह्माजीको सन्तुष्टकर उनकी कृपासे धनुष, बाण और कवच प्राप्त किया है, उनको लेकर रथस्थ हो जब मैं युद्धमें

खड़ा होऊँगा तब मेरे सामने इन्द्र भी नहीं आ सकेंगे। देवता, दैत्य सभीसे वरद्वारा मैं निर्भय हूँ।' यह सब *'निज भुज बल'* में कविने कह दिया है। नोट—२ *'बाजे जुझाऊ बाजा'*—*'बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ।.........।'* (४०। २-३) देखिये।

नोट—३ *'जनु कज्जल कै आँधी चली।'* अत्यन्त काले हैं, अतः कज्जल कहा। *'आँधी चली'* कहकर जनाया कि वे बड़े वेगसे चले आ रहे हैं, काले रंगके सिवा कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। पुनः, कज्जलकी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि शीघ्र सब नष्ट हो जायँगे। यहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। [सेनाको देखनेवाले देवादिके हृदयमें बड़ा धक्का लगा, वे त्रस्त हो गये। यह मुख्य भाव है। यह भाव तथा आश्चर्य सूचित करनेके विचारसे एक-एक मात्रा कम रखी गयी। (प० प० प्र०)]

असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनै न भुजबल गर्ब बिसाला॥ ९॥

अर्थ—उस समय अगणित अपशकुन होने लगे परंतु अपनी भुजाओंके बलका बड़ा भारी अभिमान होनेसे वह उन्हें कुछ नहीं गिनता॥ ९॥

नोट—१ (क) कुछ अपशकुनोंका वर्णन कवि आगे स्वयं करते हैं। वाल्मी० ९६ में इस स्थानके बहुत-से दुर्निमित्तोंका वर्णन है। प्रायः इन सबोंका उल्लेख *'असगुन होहिं न जाहिं बखानी।'* (४५। ७) में हो चुका है और आगे *'चलत होहिं अति असुभ भयंकर।'* (८५। १) में है। (ख) *'गनै न.........।'* भाव कि काल निकट है और गर्व अधिक है, इसीसे विचार जाता रहा, यथा—*'काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥'* एवं *'काल बस्य उपजा अभिमाना।'* ऐसा ही वाल्मी० ९६ में कहा है। यथा—**'एतानचिन्तयन्घोरानुत्पातान्समवस्थितान्। निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः॥'** (४८) अर्थात् उन उत्पातोंकी ओर दृष्टि न कर अज्ञानवश रावण कालकी प्रेरणासे अपनी मृत्युके लिये चला।

छंद—अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन स्त्रवहिं आयुध हाथ तें।
भट गिरत रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ तें॥
गोमाय गीध करार खर रव स्वान बोलहिं अति घने।
जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥

शब्दार्थ—**गोमाय**=गीदड़, शृगाल, सिआर।—*'लेत केहरि को बयरु जनु भेक हति गोमाय'* (विनय०)। **करार**=कराल।=कौआ, यथा—*'असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा॥'*—(अ० भरतागमनपर)

अर्थ—अत्यन्त गर्वके कारण वह शकुन-अपशकुनका विचार नहीं करता। हथियार हाथसे गिरते हैं, योद्धा रथसे गिर पड़ते हैं, घोड़े, हाथी चिग्घाड़ मारकर साथ छोड़कर भागते हैं। बहुत-से कराल गीदड़, गृध्र, कौवे और गदहे कठोर शब्द करते हैं तथा बहुत-से कुत्ते बोल रहे हैं; उल्लू परम भयावने शब्दसे बोल रहे हैं, मानो कालके दूत ही हों।*

नोट—१ *'गनइ न सगुन असगुन'* इति। लोगोंने यह शङ्का की है कि *'असगुन'* न गिनना तो ठीक है, शकुन न गिननेका क्या भाव! इसका समाधान यह है कि *'सगुन असगुन'* यह बोली है, जैसे 'गुणदोष', यथा—*'बाल दोष गुन गनहि न साधू।'* (१। २७५), *'कहि गुन दोष प्रबोधी रानी'*—(अ०), *'कहहु नाथ गुन दोष सब एहि के हृदय बिचारि।'* (१। १३०) मुख्य आशय तो यही है पर दूसरी प्रकार यों भी अर्थ ले सकते हैं कि उसको गर्व है कि न तो मेरी जयमें शकुन ही कारण हो सकते हैं और न अपशकुनोंसे मेरा अकल्याण हो सकता है। मेरी जय मेरे भुजबलके अधीन है और पराजय तो हो ही नहीं सकती। गौड़जीका मत है कि 'जब भूतकालमें रावणने दिग्विजय किया तब शकुन भी होते रहे, परन्तु अपने बल-

* 'ततो निष्पततो युद्धे दशग्रीवस्य रक्षसः। चस्खलुश्च तुरङ्गमाः'—(वाल्मी० ९५। ४६, ४४)। 'विनेदुरशिवा गृध्रा वायसैरभिमिश्रिताः॥' (वाल्मी० ९५। ४७)

पराक्रम तथा ऐश्वर्यके आगे उसने उन शकुनोंपर कभी विचार तथा विश्वास न किया। यहाँ भूतकालके शकुन समझना चाहिये और वर्तमान समयमें अशकुन हुए ही हैं। पहलेकी भाँति इसने इन अपशकुनोंपर भी विचार नहीं किया और न ध्यान दिया।' छंदका भाव स्पष्ट है कि रावणको इतना गर्व है कि वह इस बातपर ध्यान ही नहीं देता (न गनै) कि शकुन हो रहे हैं या अपशकुन हो रहे हैं। उस समय कोई शकुन नहीं हो रहा था, इस बातसे कोई विरोध नहीं पड़ता। बन्दन पाठकजी कहते हैं कि भाव यह है कि रावण 'वर्तमान असगुनको नहीं गनता और न भविष्यत् सगुन को' यह समझकर कि 'ये मेरा क्या कर सकते हैं।'

मेरी समझमें शब्दोंका ज्यों-का-त्यों अर्थ लेकर लोगोंकी इस व्यर्थ शङ्काका समाधान कि 'शकुन तो कोई हुए नहीं तब शकुनका न विचार करना कैसे कहा?' एक यह भी हो सकता है कि उस समय शकुन भी हुए थे और अपशकुन भी। रावणदलको अपशकुन हो रहे थे और रामदलमें शकुन हो रहे थे; यह वाल्मी० १०७ से सिद्ध है। [१०१ छंद देखिये] रावण न अपने अपशकुनोंकी पर्वा करता था और न इसपर ही ध्यान देता था कि शत्रुको शकुन हो रहे हैं।

गोमाय गीधादिको एक साथ एक ही पंक्तिमें देकर जनाया कि ये सब एक साथ मिलकर अमङ्गल शब्द कर रहे हैं। ये सब अपशकुन मृत्युके सूचक हैं।

करु०—*'जनु काल दूत उलूक बोलहिं।'* भाव यह कि उनका बोलना ऐसा है, मानो रावणको सेनासहित कालके समीप बुला रहे हैं।

नोट—२ *'जनु काल दूत ………।'* सिद्ध-विषयाहेतूत्प्रेक्षा है। *'गोमाय गीध करार ………।'* इनका रोना मृत्युसूचक अपशकुन है। कविने यहाँ अपशकुन गिनाये हैं, वे और किसी भावसे नहीं लिखे गये। पर बं० पा० जी इसमें यह भाव लिखते हैं कि 'कोई कुलमें रोनेवाला अब न रह जायगा, अतएव मानो उसके लिये गृद्धादि ही रो रहे हैं। और स्वभावसे मानो सजातीय हैं। सजातीयत्वका प्रमाण, यथा—*'सो दससीस श्वान की नाईं। इत उत चितै चला भड़िहाई॥'* (आ०)

दो०—ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम।
भूतद्रोहरत मोहबस रामबिमुख रति काम॥ ७७॥

अर्थ—क्या उसको धन-सम्पत्ति, शकुन, कल्याण और मनका विश्राम स्वप्नमें भी हो सकता है जो मोहवश जीवमात्रसे द्रोह करनेमें तत्पर है, रामविमुख है और कामासक्त है? (कदापि नहीं)॥ ७७॥

नोट—१ सबका द्रोही, मोहवश, रामविमुख और कामी—ये चारों कभी सुखी नहीं रह सकते। सम्पत्ति, शकुन और मङ्गल भी जाते रहते हैं। क्रमसे यथा—(१) *'चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं कोई॥'* (५। ३८। ७), *'परद्रोही कि होहिं निःसंका।'* (७। ११२) (२)—*'करहिं मोह बस द्रोह परावा॥'* (७। ४०), (३) *'रामबिमुख सुख काहु न पावा', 'रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई'* तथा *'रामबिमुख त्राता नहिं कोपी॥'* (४)—*'सुभ गति पाव कि परतियगामी।'* (७। ११२), *'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना॥ सु सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथ के चंद की नाईं॥'* (५। ३८), *'कामी भव कर पंथ।', 'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।'*

नोट—२ कामी हरिविमुख होते हैं क्योंकि काम भजनका बाधक है, यथा—*'जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम।'* (५। ४६) हरिविमुख लोग मोहके वश होते हैं, यथा—*'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाषंडी हरिपद बिमुख॥'* (१। ११४) मोहसे द्रोह होता है, यथा—*'करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥'* (७। ४०) अतएव क्रमसे एकके बाद दूसरेको कहा। काम सबका मूल है।

पु० रा० कु०—यथासंख्यसे भूतद्रोहके सम्पत्ति नहीं, मोहवशको शुभ शकुन नहीं, रामविमुखको शुभ (कल्याण) नहीं और कामरतको विश्राम नहीं होता।

नोट—३ जिसमें इनमेंसे एक भी दोष होता है, उसको सम्पत्ति आदि प्राप्त नहीं हो सकतीं और इसमें तो ये सब अवगुण हैं। यथा—*'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी।'* (१०९। ४) मोहवश ऐसा कि उसका रूपक ही महामोहसे बाँधा गया, यथा—*'महामोह रावण बिभीषण ज्यों ही हयो', 'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार·········।', 'रामबिमुख अस हाल तुम्हारा।'* (१०३। १०; मन्दोदरी-वाक्य) कामी तो स्पष्ट ही है। अतएव इसे 'स्वप्नमें भी' सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति असम्भव कही।

चलेउ निसाचर कटकु अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा॥ १॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना। बिपुल बरन पताक ध्वज नाना॥ २॥

शब्दार्थ—**धारा**=सेना, पंक्ति। श्रेणी। **चतुरंगिनी**=हाथी, घोड़े, रथ, पैदल जिसमें ये चारों हों—**'हस्त्यश्वरथ-पादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्।'** (अमरकोश)

अर्थ—अपार निशिचर-सेना चली। चतुरंगिनी सेनाकी बहुत श्रेणियाँ थीं॥ १॥ अनेक प्रकारकी सवारियाँ, रथ और विमान थे। अनेक रंगोंके पताके और बहुत-सी ध्वजाएँ थीं॥ २॥

पां०—१ *'अपारा'*। भाव कि किसीने इसका पार न पाया। यथा—*'चला कटक को बरनइ पारा। गर्जहिं बानर भालु अपारा॥'* (सु० ३५) उसका वर्णन या गिनती नहीं हो सकती। २—*'बहु धारा'* इसलिये कहा कि वह कई धारा होकर चली।—[*'धारा'* में भाव यह भी है कि जैसे नदीका प्रवाह चले इस प्रकार उमड़ती हुई चली।—मा० सं०] पुन:, *'बहु धारा'* से जनाया कि सेना अनेक गुल्मपतियोंसे युक्त होकर चली। (रा० प्र०)

नोट—१ मिलान कीजिये—**'इत्येतद्वाक्यमादाय राक्षसेन्द्रस्य राक्षसा:। निर्ययुस्ते रथै: शीघ्रैर्नानानीकैश्च संयुता:॥'** (वाल्मी० ९३। ६), **'रथानां नियुतं साग्रं नागानां नियुतत्रयम्॥ अश्वानां षष्टिकोट्यस्तु खरोष्ट्राणां तथैव च। पदातयस्त्वसंख्याता जग्मुस्ते राजशासनात्॥'** (वाल्मी० ९५। २७-२८) अर्थात् रावणके इन वचनोंको सुनकर वे नाना प्रकारकी सेनाओंसहित शीघ्र चलनेवाले रथोंपर चढ़-चढ़ चले! १० लाख रथ, ३० लाख हाथी, ६० करोड़ घोड़े, असंख्य गधे, ऊँट और पयादे राजाज्ञासे चले।—इससे *'कटकु अपारा'* और *'चतुरंगिनी अनी'* का भाव स्पष्ट हो जाता है।

नोट—२ *'बिपुल बरन पताक·········।'* अनेक रंगके पताके और ध्वजाएँ हैं, जिससे पहिचाने जा सकें कि कौन सेना किस सेनापतिके साथकी है। प्रत्येक अनीकका अपना-अपना चिह्न है। अनी बहुत हैं, अत: पताके और ध्वजाएँ भी बहुत कही गयीं।

चले मत्तगज जूथ घनेरे। प्राबिट जलद मरुत जनु प्रेरे॥ ३॥
बरन बरन बिरदैत निकाया। समर सूर जानहिं बहु माया॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिरदैत**=बड़ी कीर्तिवाला, बड़ा नाम, ख्याति, वा यश प्राप्त किये हुए वीर, बानाबंद—वीर बाना धारण करनेवाले।

अर्थ—मतवाले हाथियोंके अनेकों झुंड-के-झुंड चले, मानो वर्षा-ऋतुके बादल पवनसे प्रेरित (होकर) चल रहे हों॥ ३॥ रंगबिरंगके बानेबंदोंके समूह-के-समूह हैं, वे सब समरमें शूर हैं और बहुत माया जानते हैं॥ ४॥

नोट—१ *'घनेरे'* और *'प्राबिट जलद'* अर्थात् वर्षाके मेघोंकी उपमा देकर जनाया कि इनकी बड़ी घनी फौज है। श्रावण-भादोंके बादल काले होते हैं और निसाचर तथा हाथी भी काले हैं, अत: वर्षाके मेघोंकी उपमा दी। बड़े वेगसे चल रहे हैं, अत: पवनके झकोरेसे उड़ते हुए बादलोंकी समता दी। [यहाँ मरुतरूप रावणकी प्रेरणासे ये चले आ रहे हैं। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है। (रा० प्र०) रावण मरुतवेग रथपर सवार हुआ। यथा—*'अस कहि मरुत बेग रथ साजा।'* इस रथके वेगके समान ही इन हाथियोंका वेग था, यह *'मरुत जनु प्रेरे'* से जनाया। (प० प० प्र०)]

नोट—२ *'बरन बरन बिरदैत'* अर्थात् रंग-बिरंगकी वर्दियाँ पहने हुए हैं, जिनमें पूर्वकृत विजयोंमें पाये हुए तमगे (पदक) लगे हुए हैं।

नोट—३ *'समर सूर।'* अर्थात् ये रणमें जूझ जानेवाले हैं, पीछे हटने वा पीठ देनेवाले नहीं हैं। इन्हें समर रुचता है, अनेक समरोंमें इनकी वीरताकी परीक्षा हो गयी है—*'सूर सकल रन रूचइ रारी।'* (२। १९१) ये करनी कर दिखानेवाले हैं—*'समर सूर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।'* (१। २७४)

नोट—४ *'जानहिं बहु माया'* से जनाया कि सब अनिप, अकंपन आदिसे भी अधिक मायावी हैं एवं खरदूषणके साथियोंके समान हैं कि मरते हैं, फिर भी उठकर लड़ते हैं।

अति बिचित्र बाहिनी बिराजी। बीर बसंत सेनु जनु साजी॥५॥
चलत कटकु दिगसिंधुर डगहीं। छुभित पयोधि कुधर डगमगहीं॥६॥

शब्दार्थ—**बाहिनी**=सेनाका एक भेद जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०५ पैदल होते थे। सेना। सिंधुर=हाथी। यथा—*'गावत चलीं सिंधुरगामिनि'*—(बा०)। डगना (डिगना)= खिसकना, टलना, जगह छोड़ना, विचलना, डगमगाना=इधर-उधर हिलना-डोलना, स्थिर न रहना।

अर्थ—अत्यन्त विचित्र सेना शोभित हो रही है मानो वीर वसन्तने सेना सजायी हो॥ ५॥ सेनाके चलनेसे दिशाओंके हाथी डिगने लगे, समुद्र खलबला उठा, पर्वत डगमगाने लगे॥ ६॥

बीर बसंत सेनु जनु साजी

पां०—जैसे वसन्तमें अनेक रंगके फूल फूलनेवाले वृक्ष फूल रहे हैं, ऐसे ही वीरोंका बाना अनेक भाँतिका है।

पु० रा० कु०—यहाँ वसन्तकी उत्प्रेक्षा क्यों की गयी? उत्तर—मेघनादको आत्मरामायणमें कामका रूपक दिया है, यथा—*'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी।'* इति। (विनय०) वसन्त कामदेवका सहायक है। काम मारा गया, अतएव उसका मित्र वसन्त लड़ने आया—इस भावसे वसन्तका रूपक दिया गया।

नोट—वीर वसन्तकी सेनाका पूर्ण रूपक रघुनाथजीने स्वयं आ० ३८ (३—११) में कहा है। यथा—*'बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥'* से *'लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥'* तक वसन्तकी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि यह सेना ऐसी है कि बड़े-बड़े वीरोंका धैर्य इसके सम्मुख जाता रहता है।—*'रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।'* (३। ३८। ११) यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालङ्कार' हुआ।

बं० पा०—सेनाकी उत्प्रेक्षा की कि मानो वसन्त जो बड़ा वीर है उसीने सेना सजी है। वसन्त ऋतुराज है और यह भी राजसेना है।

करु०—*'बीर बसंत सेनु जनु साजी'* अर्थात् मानो वसन्त वीररसरूप राजा होकर शनैश्चरकी सेना सहाय लेकर, सेना साजकर चला है।

उठी रेनु रबि गएउ छपाई। मरुत* थकित बसुधा अकुलाई॥७॥
पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय† के घन जनु गाजहिं॥८॥

शब्दार्थ—**पनव**=छोटा नगाड़ा या ढोल। **निसान**=डंका, भारी नगाड़े।

अर्थ—ऐसी धूल उठी कि सूर्य छिप गये, पवन रुक गया तथा पृथ्वी व्याकुल होने लगी॥ ७॥ पणव और निशान भयंकर ध्वनिसे बज रहे हैं, मानो प्रलयकालके बादल गरज रहे हैं॥ ८॥

रा० प्र०—यहाँ सेनासे पाँचों तत्त्वोंका क्षुब्ध होना दिखाया है—*'दिगसिंधुर डगहीं'* से पृथ्वीतत्त्व, *'छुभित पयोधि'* से जलतत्त्व, *'उठी रेनु रबि गएउ छपाई'* से तेज (क्योंकि रवि तेजका स्वरूप है। इससे पावक तत्त्व हुआ), *'मरुत थकित'* से पवनतत्त्व और *'घोर रव बाजहिं'* से आकाशतत्त्व (क्योंकि शब्द आकाशका गुण है) क्षुभित हुआ। इस वर्णनद्वारा अखिल ब्रह्माण्डमें खड़बड़ (खलबली) जनाया।

नोट—यहाँ सेनाकी घनिष्ठता दिखायी। चरणोंकी रगड़से धूल उड़कर छा गयी। पवनको चलनेका मार्ग नहीं मिलता, अतः वह स्थगित हो गया। भारसे पृथ्वी अकुला उठी। एक परद्रोहीका ही भार बहुत

---

* पवन। † महाँ प्रलय (का०)।

है और यहाँ तो इतनेका भार है—'*जस मोहि गरुअ एक परद्रोही।*'

महाप्रलय वा प्रलय-समयके '*घन जनु गाजहिं।*' यथा—'*जनु प्रलयके बादले।*' राम-रावण-युद्ध भी एक प्रलयके ही समान है।

☞यहाँ प्रलय वा महाप्रलयकी उत्प्रेक्षा अन्तमें की गयी है, इसीसे यहाँ पञ्चतत्त्वोंका क्रम भी प्रलयके अनुसार—छिति, जल, पावक, समीर और आकाश—रखा गया है, वैसा नहीं है, जैसे किष्किन्धाकाण्डमें '*छिति जल पावक गगन समीरा*' में क्रम है। वहाँ शरीरकी रचना कही गयी थी और यहाँ नाश। ब्राह्म वा प्राकृतिक प्रलयमें पहले जल पृथ्वीके गन्ध गुणको विलीन करता है जिससे पृथ्वी नहीं रह जाती, जल रह जाता है। फिर जलका गुण जो रस है उसे अग्नि विलीन कर लेती है जिससे जल नहीं रह जाता, अग्नि रह जाता है। फिर वायु तेजको भी विलीन कर लेती है और वायु ही रह जाती है। फिर वायुका गुण जो स्पर्श है उसे आकाश विलीन कर लेता है और केवल आकाश ही रह जाता है जिसका गुण शब्द है। फिर यह शब्द भी मनस्तत्त्वमें, मनस्तत्त्व बुद्धितत्त्वमें बुद्धितत्त्व अहंकारतत्त्वमें और अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है। ब्रह्माका दिन बीतने और रात्रि आनेपर यह प्रलय होता है।

भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥ ९ ॥
केहरिनाद बीर सब करहीं। निज निज बल पौरुष उच्चरहीं॥ १०॥

शब्दार्थ—**सहनाई**—बाँसुरी या अलगोजेके आकारका, पर उससे कुछ बड़ा, मुँहसे फूँककर बजाया जानेवाला एक प्रकारका बाजा जो प्राय: रोशनचौकीके साथ बजाया जाता है। '**मारू**'—यह राग युद्धके समय बजाया और गाया जाता है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। यह श्रीरागका पुत्र माना जाता है।

अर्थ—भेरी, नफीरी (तुरही) और शहनाई सुभटोंको सुख देनेवाले मारू रागसे बज रहे हैं॥ ९॥ सब वीर सिंहनाद करते हैं और अपना-अपना बल-पुरुषार्थ कर रहे हैं॥ १०॥

पु० रा० कु०—**भेरि**=लघु दुन्दुभी। भेरी, नफीरी और शहनाई, इन तीनोंसे मारू राग बजता है।

नोट—१ '*मारू राग सुभट सुखदाई*' इति। अर्थात् इस रागके बजनेसे भटोंका उत्साह बढ़ता है; अत: सुख होता है, यथा—'*बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ॥*' (४०। २)

नोट—२ '*निज निज बल पौरुष उच्चरहीं।*' इति। ऐसा करनेसे एक-दूसरेका उत्साह बढ़ता है, यथा—'*एकहि एक बढ़ावइ करषा।*' (अ० १९१) पौरुष उच्चारण करते हैं अर्थात् एक-दूसरेसे कहता है कि हम ऐसा करेंगे, तुमसे बढ़कर पराक्रम दिखायँगे, अकेले ही सारी शत्रुसेनाको पृथ्वीपर सुला देंगे, इत्यादि। (रा० प्र०)

कहै दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा॥ ११॥
हौं मारिहौं भूप द्वौ भाई। अस कहि सन्मुख फौज रेंगाई॥ १२॥

शब्दार्थ—ठट्ठ=समूह, झुंड, समुदाय, यथा—'*देखि न जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा॥*' हौं=मैं।

अर्थ—रावण बोला—हे उत्तम योद्धाओ! सुनो। तुम भालु और वानरसमुदायका नाश करो॥ ११॥ और, मैं दोनों राजकुमार भाइयोंको मारूँगा। ऐसा कहकर अपनी सेना उसने सामने चलायी॥ १२॥

नोट—१ '*हौं मारिहौं भूप द्वौ भाई*' इति। सेनाको आज्ञा दी कि सेनाको मारें और आप राजा हैं, अत: आप राजाको मारनेको कहता है।

नोट—२ '*रेंगाई*'। 'रेंगना' प्राय: छोटे-छोटे कीड़ोंके चलनेके लिये प्रयुक्त होता है। रेंगना धीरे-धीरे होता है। इस पदको देकर जनाया कि फौज बहुत भारी है। इस प्रकार सघन चल रही है, जैसे कीड़ोंके झुण्ड चलें, पृथ्वी न दिखायी दे। पुन:, भाव कि ये सब ऐसे सहज ही मारे जायँगे जैसे पैरके नीचे पड़कर कीड़ोंके समूहका नाश हो जाता है। पुन:, प्रयागसे आगे चित्रकूटतक 'रेंगना' क्रियाका 'चलने' के अर्थमें प्रयोग होता है। उधरकी यह देशबोली है।

वि० त्रि०—सेनाके तैयार हो जानेपर प्रस्थानके पहिले ही रावण कार्य-विभागकी घोषणा किये देते हैं कि

(सकल लोक विख्यात धन्वी) जो दोनों भाई हैं, उनका भय तुम लोग न करो, उन दोनोंका मैं वध करूँगा। वे ही दोनों अस्त्र-शस्त्रके ज्ञाता हैं, शेष तो बंदर-भालू हैं, उनसे अस्त्र-शस्त्रका क्या सम्बन्ध? वे तो पत्थर, पेड़द्वारा लड़ते हैं, तुमलोग शस्त्रधारी हो, अस्त्र-शस्त्रसे उन सबोंको छिन्न-भिन्न कर दो। इस भाँति युद्ध करनेसे जय निश्चित है। ऐसा कहकर सेनाको आगे बढ़ाया। यहाँ *'रेंगाई'* से भाव यह है कि सेनाके नियमके अनुसार चलाया। वे सब बंदर-भालुओंकी भाँति बेकायदे नहीं दौड़े। यथा—*'धाए बिसाल कराल मर्कट'* इत्यादि।

नोट—३ मिलान कीजिये—'**अब्रवीच्च स तान्सर्वान् बलमुख्यान्महाबलः॥**', '**अथवाहं शरैस्तीक्ष्णैर्भिन्नगात्रं महाहवे। भवद्भिः श्वो निहन्तास्मि रामं लोकस्य पश्यतः॥**' (वाल्मी० ९४। २, ५) अर्थात् महाबली रावण अपने सब सेनापतियोंसे बोला—यदि आज तुम लोग उन (राम-लक्ष्मण) को न मार सकोगे तो तुमलोगोंके बाणोंसे भिन्न अङ्ग उनको प्रातःकाल सब लोगोंके देखते मैं तो मार ही डालूँगा। वाल्मीकिका रावण-सेनापतियोंको श्रीरामलक्ष्मणके मुकाबिलेके लिये पर्याप्त समझता है; इससे पहले उन्हींसे कहता है कि जाकर उनसे युद्ध करें, ऐसा अनुमान होता है।

यह सुधि सकल कपिन्ह जब पाई। धाए करि रघुबीर दोहाई॥ १३॥

अर्थ—जब सब वानरोंने यह सब खबर पायी (कि रावणकी आज्ञासे सेना इस प्रकार आ रही है) तब वे रघुवीरकी सपथ करके दौड़े॥ १३॥

रा० प्र०—*'सुधि पाई'* इति। पणव निशानादिद्वारा सुध पायी।

गौड़जी—*'रघुबीर दोहाई'* करके दौड़नेका परिणाम उनकी विजय है।

छं०—धाए बिसाल कराल मर्कट भालु काल समान ते।
मानहुँ सपक्ष उड़ाहिं भूधर बृंद नाना बान ते॥
नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं।
जय राम रावन-मत्तगज मृगराज सुजस बखानहीं॥

शब्दार्थ—बान=रंग, वर्ण, यथा—*'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥'* (२। २०५)

अर्थ—वे विशाल और कालके समान भयङ्कर वानर-भालु ऐसे दौड़े मानो अनेक रंग-बिरंगके पक्षयुत पर्वतवृन्द उड़ रहे हैं। बड़े-बड़े नाखून, दाँत, पर्वत और वृक्ष ही उनके हथियार हैं, वे बलवान् हैं तथा किसी बलवान् योद्धासे डर भी नहीं मानते। रावणरूपी मतवाले हाथीके लिये सिंहरूप रामचन्द्रजीका जय-जयकार करके वे प्रभुका सुन्दर यश बखान करते हैं।

नोट—वानर-भालु बहुत रंगके हैं। लाल, काले, पीले, भूरे इत्यादि। *'नाना बरन सकल दिसि देखिय कीस बरूथ।'* (कि० २३) तथा *'नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भय कारी॥'* (सुं० ५४। ६) देखिये! नाना वर्णके होनेसे नाना वर्णके पर्वत कहे। विशाल होनेसे *'भूधर'* और बहुत होनेसे *'बृंद'* कहा। [पुनः, *'भूधरबृन्द नाना बान ते'* का भाव कि बृन्द-के-बृन्द, इस प्रकार उड़े (शीघ्रतासे धावा करने चले) जा रहे हैं, मानो बाण ही हैं। गतिमें बाणके समान जनाया। यथा—*'जिमि अमोघ रघुपति के बाना। तेही भाँति चला हनुमाना॥'* (बं० पा०)] पर्वत अब उड़ते नहीं और ये उड़ते हुए-से जा रहे हैं इससे सपक्ष पर्वतकी उपमा दी। किष्किन्धासे पयानके समय भी श्रीरामकृपासे इनका पक्षयुत पर्वतसदृश होना कहा है। यथा—*'राम कृपा बल पाइ कपिन्दा। भए पक्षजुत मनहु गिरिंदा॥'* (५। ३५) ये काल-समान, वैसे ही उड़ते हुए विशाल पर्वत भी काल-सदृश भयावने लगते हैं।

वीरकवि—दूसरे चरणमें 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा,' तीसरेमें 'तृतीय विभावना' और चौथेमें 'परम्परित रूपक' हैं।

दो०—दुहुँ दिसि जयजयकार करि निज निज जोरी जानि।
भिरे बीर इत रामहिं* उत रावनहि बखानि॥ ७८॥

* रामहित—१७२१, १७६२, छः। रामहि—भा० दा०। रघुपतिहि—का०।

शब्दार्थ—जोरी=जोड़ी; अपनी जोड़का, समान बलका प्रतिभट। इत=इधर। उत=उधर।

अर्थ—दोनों ओरके वीर जय-जयकार करके अपनी-अपनी जोड़ी जानकर, इधरवाले श्रीरामका और उधरवाले रावणका बखान करते हुए परस्पर भिड़ गये॥ ७८॥

नोट—१ *'निज निज जोरी जानि'* इति। प्राचीन समयमें यही रीति बरती जाती थी। यह यहाँ *'निज निज जोरी जानि'* और पूर्व भी वानर-निशाचरयुद्धमें ***'इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए॥ भूधर नख बिटपायुध धारी। धाए कपि जय राम पुकारी॥ भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥'*** (५२। २—४) ऐसा कहकर जनाया है। *'इत'* से कवि अपनेको रामदलके साथ जनाते हैं। १० (१), १७ (१), ३७ (३) में जो *'इहाँ'* पर लिखा गया है, यही भाव *'इत'* में भी है। *'बखानि'*।' अर्थात् अपने स्वामीका बल, प्रताप, पौरुष वर्णन करते हैं। जय-जयकार करते हैं। मिलान कीजिये—**'वानराणामपि चमूर्युद्धायैवाभ्यवर्तत॥ अन्योन्यमाह्वयानानां क्रुद्धानां जयमिच्छताम्॥'** (वाल्मी० ९५। ४९-५०) अर्थात् राक्षसों और वानरोंकी सेना युद्ध करनेके लिये तैयार हो गयी और अपनी-अपनी जयकी इच्छा किये हुए परस्पर एक-दूसरेको पुकारते हुए वानरों और राक्षसोंको बड़ा क्रोध हुआ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—चारों फाटकोंकी लड़ाईमें दुर्गरक्षक सेना मारी गयी। मेघनाद-वधमें मेघनादके अधीन सेना मारी गयी। कुम्भकर्ण यद्यपि सेनाके साथ रणभूमिमें नहीं आया, पर (***'कुंभकरन रिपु फौज बिडारी। सुनि धाईं रजनीचरधारी॥'***) 'पीछेसे उसकी सेना भी आयी, जो रघुनाथजीके हाथसे मारी गयी। अभीतक रावणकी सेना अछूती रही। शाही फौज है। इसमें बड़े-बड़े वीर हैं। अतः वानरी सेनामेंसे अपनी जोड़ी देख करके भिड़ गये। ऐसी ही लड़ाई लक्ष्मण-मेघनाद-युद्धके समय हुई थी। यथा—***'भिरे सकल जोरी सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥'*** ठीक वही बात यहाँ कह रहे हैं। ऐसे ही अवसरपर विभीषण अधीर हो उठे कि यहाँ तो जोड़ छुट रही है। रावणके जोड़में सरकारको जाना है। यही 'धर्मरथ' के उपदेशका कारण हुआ।

पाठान्तर—*'इत रामहित'*—भा० दा० में *'रामहि'* पाठ था, पर चिह्न देखकर 'त' बढ़ाया गया है। *'रावनहि'* की जोड़में इधर *'रामहि'* हो, यह भी सम्भव है। प्र० सं० में *'रामहि'* पाठ रखा गया था। गी० प्रे० ने भी यही पाठ रखा है। 'रामहित' में भाव यह कहा जाता है कि वानर-भालु स्वार्थानुसंधानरहित होकर एकमात्र श्रीरामजीके ही लिये लड़ रहे है। यथा—**'राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा।'** (वाल्मी० ४२। १३) परंतु राक्षसोंमें यह बात नहीं है, वे रावणके भयसे ही लड़ रहे थे, क्योंकि उसने प्रारम्भमें ही घोषणा कर दी थी कि ***'जो रन बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना॥ सर्बसु खाइ भोग करि नाना। समर भूमि भए बल्लभ प्राना॥ उग्र बचन सुनि सकल डेराने।'*** (४१। ७—९) इसीसे *'उत रावनहि बखानि'* कहा। राक्षस अपने स्वामीके भूतकालिक बल, पौरुष और प्रताप आदिका बखान करते हैं, जिससे वानरगण भयभीत हो जायँ। पर वानर वीर श्रीरामजीके बल, प्रताप आदिका बखान नहीं करते, कारण कि ***'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।'*** श्रीरामजीका बल-पुरुषार्थ आदि तो आँखोंसे देखते चले ही आ रहे हैं, ये (वानर) अपने श्रीरामदलका नारामात्र लगा रहे हैं। श्रीरामदलका नारा है—***'जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव।'*** **'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः।'** (वाल्मी० ५। ४२। ३३, ६। ४२। २०), (वे० भू०)

श्रीरामगीता-धर्मरथ

रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषनु भयउ अधीरा॥ १॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा॥ २॥

अर्थ—रावणको रथपर सवार और रघुवीरको बिना रथके देखकर विभीषणका धैर्य जाता रहा (वे घबड़ा गये)॥ १॥ बहुत प्रेम होनेके कारण उनके मनमें संदेह हो गया और वह श्रीरामजीके चरणोंको प्रणाम करके स्नेहपूर्वक बोले।

वे० भू०—१ (क) *'रावन रथी'* इति। भाव कि एक तो वह रावण है, जगत्‌को रुलानेवाला है—**'रावणो लोकरावणः', 'रावयति सर्वान् लोकान् इति रावणः'**—उसपर भी अस्त्र-शस्त्र, ध्वजा-पताका आदिसे सुसज्जित रथपर बैठा है। (ख) *'रथी'* इति। महाभारतमें रथी कई प्रकारके कहे गये हैं—अर्द्धरथी, रथी, महारथी और अतिरथी। जो अकेला पाँच सौ वीरोंसे लड़ सके वह अर्द्धरथी, जो एक सहस्रसे लड़ सके वह रथी, जो दस सहस्र धनुर्धारियोंसे लड़ सके वह महारथी और जो असंख्य धनुर्धारियोंसे अकेला लड़ सके वह 'अतिरथी' कहलाता है। यथा—'**एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः। अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः। रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः।** यहाँपर इस लाक्षणिक *'रथी'* से तात्पर्य नहीं है। यहाँ, रथी सुसज्जित रथपर सवार। यह अर्थ आगेके *'बिरथ रघुबीरा'* से स्पष्ट हो जाता है। (ग) *'बिरथ रघुबीरा'* इति। बिना रथके हैं अर्थात् पैदल हैं, शरीरपर कवच भी नहीं है, तथापि वे 'रघुवीर हैं', अतः युद्ध तो अवश्य ही करेंगे। क्योंकि उनका तो नियम ही है कि *'जो रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥'* (१। २८४। २)

नोट—माधुर्य-लीलाकी अद्भुतता, गहनता और प्रबलता ऐसी ही है कि वह ऐश्वर्यको दबा देती है। विभीषणजी प्रभुका ऐश्वर्य भलीभाँति जानते थे। उन्होंने रावणसे स्वयं कहा था कि—*'तात राम नहिं नरभूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥ ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥'* समुद्र तरनेका उपाय प्रभु पूछते हैं तब भी वे कहते हैं कि *'कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥ जद्यपि तदपि नीति असि गाई।'* (५। ५०), फिर वे समुद्रबन्धन, एक ही बाणसे रावणके मुकुटादिका हरण करना, महाबल कुम्भकर्णका लीलापूर्वक वध आदि आँखोंसे देख भी चुके हैं। वे ही विभीषण आज प्रभुके माधुर्यमें ऐश्वर्य भूल गये।

देखिये, ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजी यह जानते थे कि *'प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा।'* (१। २०६), *'निसिचर बध मैं होब सनाथा।'* (१। २०७) उन्होंने श्रीचक्रवर्तीजीसे कहा भी कि *'डरपत हौं साँचे सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने।'* (गी० १। ४८) सो वे ही महामुनि इनको *'पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई॥'* (गी० १। ५०) यह माधुर्यका प्रभाव है। इसी तरह श्रीकौसल्याजी श्रीरामजीका अद्भुत ऐश्वर्य-स्वरूप देख चुकी हैं, उनको अलौकिक ज्ञान प्राप्त है फिर भी उनकी माधुरी मूर्ति देखकर उनको संदेह हो जाता है, वे कह उठती हैं *'केहि बिधि तात ताड़का मारी।'''''''''मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु।'* (१। ३५६) इत्यादि। यह माधुर्यका प्रभाव है। अत्यन्त स्नेहवश स्नेहीको प्रियके सम्बन्धमें सदा शङ्का हो जाती है। श्रीकिशोरीजीकी भी यही दशा उस समय हो गयी थी जब श्रीराघवजी धनुष तोड़नेके लिये रंगभूमिमें चल पड़े थे। श्रीसरकारके अङ्गोंकी कोमलता और धनुषकी कठोरता वे वहाँ जैसे प्रत्यक्ष देख रही थीं वैसे ही कोमलता और कठोरता विभीषणजी, श्रीरामचन्द्र और रावणने लोचन-गोचर कर रहे हैं। प्रीतिके आधिक्यवश ये भी अधीर हो गये।

यहाँ महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'विभीषणजी जानते तो प्रथमसे ही हैं कि सेनामें रथ, घोड़े, हाथी इत्यादि कोई वाहन नहीं हैं, रघुनाथजीको पैदल ही युद्ध करना पड़ेगा और मेघनाद एवं कुम्भकर्णसे पैदल ही युद्ध किया भी है, 'तब पूर्व ही यह प्रश्न क्यों नहीं किया गया?', इसके अनेक प्रकारसे समाधान किये हैं।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जानते तो पहलेसे ही थे कि सेनामें एक टटुआ भी नहीं है। सरकारको पैदल ही युद्ध करना पड़ेगा, पर घर बैठे जानना दूसरी बात है और समराङ्गणमें देखनेसे दूसरे ही भाव उत्पन्न होते हैं, अतएव विभीषण अधीर हो उठे। खटकती तो यह बात बंदरोंको भी थी, यथा—*'रथारूढ़ रघुनाथहिं देखी। धाए कपि बल पाइ बिसेषी॥'* पर वे अधीर नहीं हुए, क्योंकि उन लोगोंमें पैदल ही युद्ध करनेकी प्रथा है, (वे श्रीरामजीको पैदल ही सर्वत्र विजयी होते देख भी चुके हैं); परन्तु विभीषण लंकेश ठहरे, रथीकी गरिमाको जानते हैं और पदातिकी असुविधाका भी उन्हें सम्यक् बोध है; अतएव वे अधीर हो गये। इस प्रकार विभीषणका आर्त्त अधिकारी होना भी सिद्ध है।—*'गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥'*

विभीषणजीको विजयमें संदेह कभी नहीं था। इन्होंने चलते समय पुकारकर कहा था कि *'राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।'* परंतु उस समय सरकारको देखा नहीं था, देखनेपर प्रीति बढ़ी और समरके सङ्कटमें देखकर वह प्रीति अधिक बढ़ गयी, एवं अधिक प्रीति बढ़नेपर चित्त आशङ्कित हो उठता है, अतएव *'उर भा संदेहा।'*

मा० म०—(१) विभीषण अधीर हुए और सुग्रीवका धैर्य बना रहा। कारण कि विभीषण अभी राजा नहीं हुए और सुग्रीव राजा हो चुके हैं। पुनः, (२) विभीषण रथविद्या जानते हैं और सुग्रीव पदचारी हैं, इस बातको नहीं जानते। रथारूढ़ शत्रुसे रथारूढ़ होकर युद्ध करनेहीसे शत्रुका नाश होता है। (३) रावण विभीषणका महाशत्रु है और सुग्रीव लघुशत्रु है; क्योंकि सुग्रीव उसे रामचन्द्रजीके शत्रु होनेसे शत्रु समझते हैं अतः वे विभीषणके ऐसा अधीर नहीं हुए। विभीषण श्रीरामचन्द्रजीको सुकुमार माधुर्यमय जानते हैं अतः अधीर हुए। और सुग्रीव उनके ऐश्वर्यको जानते हैं, (उनके हृदयमें श्रीरामजीके अमित बलका आतङ्क समाया हुआ है। यथा—*'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।'* (४। ७। १३) उन्हें विश्वास है कि वे रावणको अवश्य जीतेंगे, अतः अधीर न हुए। पुनः, (४) सुग्रीवके अन्तःकरणमें भक्ति है, ऊपर सखा-भाव है अतः अधीर न हुए। विभीषणके अन्तःकरणमें तथा ऊपर दोनों प्रकार भक्ति है, अतः अधीर हुए।

रा० प्र०—अधिक प्रीतिसे संदेह हुआ क्योंकि *'बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू।'*

प० प० प्र०—**'अतिस्नेहः पापशंकी'** यह अति स्नेहका स्वभाव ही है कि स्नेहीके कुशलमें सदा शङ्का हो जाय।

बं० पा०—यहाँ सब जोड़ीसे भिड़े हैं, पर यहाँ विषमता देख रहे हैं कि एक अस्त्र-शस्त्र-ध्वजा-पताका सारथी आदिसे सुसज्जित रथपर सवार है और दूसरा पैदल है, कवचादिसे भी रक्षित नहीं है। इस प्रकार जोड़ी समान न देख वे सह न सके, उनसे रहा न गया।

वीरकवि—इष्टहानिके सोचसे प्रीतिवश मनमें संदेह होना शङ्का-सञ्चारी-भाव है।

वै०—*'बंदि चरन'* इति। बिना पूछे कुछ कहना प्रौढ़ता (धृष्टता) है, अतः प्रभुपदकी वन्दना करके आज्ञा पाकर बोले।

वि० त्रि०—*'बंदि चरन कह सहित सनेहा'* इति। जिज्ञासाके पूर्व प्रणाम शास्त्रसम्मत है, अतः प्रणाम करके बोले। जीतनेकी कोई विधि नहीं दिखायी देती, कदाचित् वीरताके आवेशमें (प्रभु) विधिका ध्यान-न करते हों, अतएव ऐसे विषम समयमें प्रश्न कर ही बैठे।

श्रीमान् गौड़जी लिखते हैं कि—'विभीषण रघुनाथजीको चाहे जो समझता रहा हो, परन्तु वह श्रीरामजीका समर-मन्त्री था।'

१-*'सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा॥*
कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई।बिनय करिय सागर पहँ जाई॥'
२-*'रिपु के समाचार जब पाए। राम सचिव सब निकट बोलाए॥*
लंका बाँके चारि दुआरा। केहि बिधि लागिय करहु बिचारा॥
तब कपीस लंकेस बिभीषन। सुमिरि हृदय दिनकरकुलभूषन॥
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा। .... *॥'* इत्यादि।

इन अंशोंसे स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ मन्त्रणाकी आवश्यकता हुई है, वहाँ विभीषणने पूरा-पूरा योग दिया है। विभीषण कोरे भक्त ही न थे, बल्कि बड़े चतुर राजनीतिज्ञ भी थे। [माल्यवान्‌ने रावणसे कहा है कि *'तात अनुज तव नीति बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन॥'* (५। ४०। २) श्रीरामजी भी कहते हैं *'मैं जानउँ तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन......... ॥'* (५। ४६)] अतः समरमें बराबरीके विचारसे

विभीषणको रथकी आवश्यकता प्रतीत हुई। विभीषणके इस विचारसे देवता भी सहमत थे। यथा—

'देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा। उर उपजा अति छोभ बिसेषा॥

सुरपति निज रथ तुरत पठावा। हरष सहित मातलि लेइ आवा॥'

और रघुनाथजीने भी रथका विरोध नहीं किया, वरन् *'तेजपुंज रथ दिव्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुर भूपा॥'* अब देखिये वानरोंकी दशा—*'रथारूढ़ रघुनाथहिं देखी। धाए कपि बल पाइ बिसेषी॥'* इत्यादि। इन पदोंसे स्पष्ट है कि विभीषणने जो अपने नैतिक विचार प्रकट किये थे, वे बिलकुल यथार्थ और उचित तथा न्यायसङ्गत थे।

श्रीरामचन्द्रजीकी सेना और विशेषत: स्वयं भगवान्‌के पास रथ न होनेसे जीतमें जो संदेह हुआ उसे भगवान्‌ने उपदेशद्वारा निवारण किया। तात्पर्य यह कि *'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।'* जिस रथसे वास्तविक जय होती है, वह और ही है। वह आध्यात्मिक है, आधिभौतिक नहीं। जयका अवलम्ब आज भी सेना और सामग्रीपर नहीं है, वरन् विजेताकी बुद्धि, चरित्र और आत्मबल तथा साहसपर है।

विश्वामित्रका शस्त्रबल वसिष्ठजीके आत्मबलसे परास्त हो गया था। **'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।'** राम-रावणयुद्धमें भी श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मबुद्धि, विवेक और आत्मबलने रावणकी पापबुद्धि, अविवेक और कमजोरीपर विजय पायी। पिछले यूरोपीय युद्धमें भी जर्मनीकी हार उसके शत्रुओंके बलसे नहीं, बल्कि उसकी अपनी कमजोरीसे ही हुई। उसके शत्रुओंमें आत्मबल प्रबल होता तो आजतक निर्णयमें देर न लगती। जर्मनीकी हार जरूर हुई, पर शत्रुओंकी जीत भी नहीं हुई।

प्रस्तुत प्रसङ्गमें श्रीरघुनाथजीने वास्तविक हार-जीतके सम्बन्धमें 'गीता' का उपदेश विभीषणको करके उनका मोह दूर किया। *'सुनि प्रभु बचन बिभीषन हरषि गहे पदकंज। एहि मिस मोहि उपदेसेहु रामकृपा सुख पुंज॥'* इन वचनोंसे स्पष्ट है कि विभीषणके वचन राजनैतिक विचारसे थे, न कि भक्तिपक्षसे। परन्तु भगवद्वचन 'नित्य और सत्य हैं।'

नाथ न रथ नहिं तनु पदु त्राना*। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥ ३॥

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदनु आना॥ ४॥

अर्थ—हे नाथ! आपके पास न तो रथ है, न तनकी रक्षा करनेवाला (कवच) ही है और न पदरक्षक (जूती) ही है, (तब) बलवान् वीर रावणको किस प्रकार जीतियेगा?॥ ३॥ दयासागर (श्रीरामजी) बोले—हे सखे! सुनो, जिस रथसे जय होती है, वह रथ तो दूसरा ही है॥ ४॥

नोट—१ *'नाथ'* का भाव कि मैं तो लङ्कासे अनाथ होकर आया था, आप ही मेरे नाथ हुए, नहीं तो रावणके भयसे मुझे कौन रख सकता। यथा—*'जरत बिभीषन राखेउ दीन्हेउ राज अखंड'* (सुं०), *'राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा को।'* (वि० १५२), *'रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै।'* (गी० ५। ३४), *'भाईको न मोह छोह सीय को न तुलसीस कहैं मैं बिभीषनकी कछु न सबील की।'* (क० लं० ५२), *'ह्वैहैं कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती।'* (गी० लं० ७)

वे० भू०—श्रीरामजी परब्रह्म परमात्मा हैं और ब्रह्मके साथ जीवका तीन ही सम्बन्ध वेदमन्त्रोंमें प्रतिपादित है—पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक और सखा। **'अमृतस्य ते पुत्राः'** तो बहुत प्रसिद्ध श्रुति है। ब्रह्मसूक्तकी श्रुति भी प्रसिद्ध है—**'ब्रह्मदाशा ब्रह्म दासाब्रह्म मे कितवः। अरंदासोनमीढुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः।'** (ऋग्० ७। ८६। ७), **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।'** (ऋग्० १। १६४। २० अथर्व० ९। ९। २०), **'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।'** (ऋ० १। १०१। ५), **'मरिष्यते त्वावतः सखा।'** (ऋ० १। ९१। ८) इत्यादि। जीवात्मा अणु, ईश्वराधीन एवं सीमित ज्ञानगुणक होनेसे सदैव ही अपनेको दास और परमात्माको स्वामी (नाथ) ही मानता है और यही उचित भी है—**'आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर।'** (हारीत) सखाभावमें

* पटु त्राना। (का०)

भी जीव अपनेको ईश्वराधीन वृत्तिका ही मानता है और तथ्य भी यही है कि *'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'* इसीसे विभीषणजी सखा होते हुए भी *'नाथ'* कह रहे हैं। गोस्वामीजीने विनयमें भी कहा है—*'जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन।'*

वे० भू०—रथी वीरके जीतनेका मुख्य साधन रथ है, इसीसे *'न रथ'* को प्रथम कहा। *'रथ'* कहनेसे अस्त्र-शस्त्र और कवच आदि समस्त युद्धकी सामग्रीसे सुसज्जित समर-साहित्ययुद्धरथ सूचित किया। यदि कहें कि विना रथके भी तो युद्धमें विजय प्राप्त की जा सकती है तो उसपर कहते हैं कि पैदल युद्ध करनेमें 'तनत्राण' तथा 'पदत्राण' तो अवश्य ही चाहिये, रथीके पास पदत्राण न भी हो तो भी काम चल सकता है। अत: रथको कहकर तब *'नहिं तनु पद त्राना'* को कहा।

वि० त्रि०—(१) पैदलको इनमेंसे कोई सुभीता नहीं। और यहाँ तो पदत्राण भी नहीं जो पदातिके लिये भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि युद्धके समय **'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'** तो हो नहीं सकता। दृष्टि उस समय पृथ्वीकी ओर न होकर केवल अपने शत्रुपर रहती है, जिससे पैरोंकी रक्षा काँटे-कङ्कड़ आदिसे नहीं हो सकती। (२) *'केहि बिधि जितब'* का भाव कि यदि कहिये कि पदाति रहकर ही हम सदा राक्षसोंको जय करते आये हैं, सो ठीक है, परन्तु रावण उन सबोंकी श्रेणीमें नहीं है। (प्र० सं०)

शीला—*'केहि बिधि जितब।'* कि युद्धमें जयके लिये रथ, कवच और पदत्राण जरूरी हैं। पहले तो सारथी ही रथकी रक्षा करता है, रथी उसके सहारे रथमें बैठे शत्रुपर निशाना करते हैं और उसकी ओटसे अपनेको बचाये रहते हैं। इतनेपर भी यदि आघात पहुँचे तो कवचसे शरीरकी रक्षा शत्रुके अस्त्र-शस्त्रोंसे होती है। पैदल चलनेपर पदत्राणसे काँटा, कङ्कड़, रुधिर आदिसे रक्षा होती है। ये कोई नहीं हैं तब शरीरकी रक्षा कैसे होगी? शत्रु ऊपर है और आप नीचे। जीतनेकी इतनी जो विधियाँ हैं, वे कोई भी यहाँ नहीं हैं तब किस विधिसे विजय होगी?

नोट—२*'कह कृपानिधाना'* इति। कृपानिधान विशेषणका भाव कि—(१) यहाँ प्रभु कृपा करके विभीषणजीको धर्मोपदेश देंगे जिससे सदाके लिये इनका मोह दूर हो जाय। *'एहि मिस मोहि उपदेसेहु राम कृपा सुख पुंज '* (७९) यह उपदेश 'श्रीरामगीता' और किसीके मतानुसार 'विभीषणगीता' के नामसे प्रसिद्ध है। (२) इनके उपदेशद्वारा जगत्‌का कल्याण भी होगा (३) सखाको उपदेश देकर अपना-सा बनाना चाहते हैं, क्योंकि कृपानिधान हैं।

बाबा जानकीदासजी—१ श्रीरामजीके तीन मुख्य सखा हैं। एक निषादराज, दूसरे सुग्रीव, तीसरे विभीषण, क्रमसे प्रमाण यथा—

(१)*'कृपा करिय पुर धारिय पाऊँ।'*	*'कहेउ सत्य सब सखा सुजाना'*
(२)*'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥'*	*'सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव।'*
(३)*'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर। त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर॥'*	*'खलमंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहै केहि भाँती॥'*

२—जैसे विभीषण अधीर हुए, वैसे ही वे दोनों भी अधीर हुए थे। निषादराज अधीर हुए, यथा—*'सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥'* (२। ९०। ५), *'भयउ बिषाद निषादहि भारी। राम सीय महि सयन निहारी॥'* (२। ९२), सुग्रीव अधीर हुए थे, इसका लक्ष्य इन वचनोंसे होता है—*'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥'* से *'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥'* (कि० १८) तक तथा यहाँ विभीषणजी अधीर हुए—*'रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥'*

३—(क) जब निषादराज अधीर हुए तब लक्ष्मणजीने उन्हें समझाया था, यथा—*'बोले लषन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥'* (अ० ९२। ३) से—*'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सियरघुबीर चरन रत होहू॥'* (९४। १) तक।

(ख) सुग्रीवको हनुमान्‌जीने समझाया था इसका लक्ष्य—

'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा॥' से
'सुनि सुग्रीव परम भय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥' (कि० १९। ३) तक
तथा, यहाँ विभीषणजीको प्रभुने उपदेश दिया जो यहाँ प्रारम्भ हुआ।

नोट—३ निषादराज और विभीषणजी दोनों ही प्रभुके माधुर्यमें भूलकर उनपर अत्यन्त स्नेह होनेसे अधीर हुए। जैसे निषादराजको *'भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू', 'रामसीय महिसयन निहारी'* वैसे ही विभीषणको *'अधिक प्रीति मन भा संदेहा', 'रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥'* प्रभुको पृथ्वीपर सोते देख निषादको दुःख हुआ और वह विह्वल हो गया तथा विभीषणजी रावणको रथपर और प्रभुको नंगे पैर पृथ्वीपर देख दुःखी हुए। निषादराजको भाई लक्ष्मणजीने समझाया था, क्योंकि उस समय उन्होंने लक्ष्मणजीसे अपना दुःख प्रकट किया है और यहाँ विभीषणजीने अपना दुःख श्रीरामजीसे प्रकट किया है; अतः श्रीरामजीने समझाया। उस प्रकरणका लक्ष्मणगीता नाम पड़ा और इसका रामगीता। इस प्रकार इन दोनोंमें बहुत साम्य है। सुग्रीवका अधीर होना एक तो लक्ष्यमात्र ही है, दूसरे, उसमें प्रभुका स्नेह और माधुर्य कारण नहीं है, इसलिये उनसे समता इस प्रकरणमें नहीं हो सकती।

वै० भू०—सुग्रीवजीके हृदयमें श्रीरामजीका बल प्रत्यक्ष सुपरीक्षित रूपसे देख लेनेके बाद ही श्रीरामजीमें निष्ठा हुई, इसीसे वह निष्ठा सदैव ऐश्वर्यभावात्मक बनी रही और सुग्रीवको मोह नहीं हुआ, श्रीरामजीके परोक्षमें वे उनको भूल जाते थे और प्रत्यक्षमें ऐश्वर्यज्ञान रहता था। परन्तु निषादराज और विभीषणजीकी भक्तिमें माधुर्य प्रधान था और ऐश्वर्य गौण। श्रीरामजीके परोक्षमें उनको पूर्ण ऐश्वर्यज्ञान रहता था, परन्तु प्रत्यक्षमें श्रीरामजीके समक्ष उनका ऐश्वर्यज्ञान तिरोहित हो जाता था और वे माधुर्यमें मग्न हो जाते थे। अत्यन्त माधुर्यके कारण भक्त **'सखा'** को मानसिक क्लेश न हो, इसलिये उपदेश देना आरम्भ किया। इसीसे ***'कृपानिधान'*** विशेषण दिया।

बं० पा०—इस मानसरामायणमें कई गीताएँ हैं। अयोध्यामें लक्ष्मणगीता, अरण्यमें रामगीता जो श्रीरामजीने लक्ष्मणजीको उपदेश दिया और तीसरी यहाँ भगवद्गीता। यथा अर्जुनके मोहसे उनको रणभूमिमें श्रीकृष्णजीने उपदेश किया तथा यहाँ रणभूमिमें विभीषणजीको श्रीरघुनाथजीने धर्ममय-रथका उपदेश किया, जिसमें रथीरूपी जीवका महा अजय संसाररूपी रिपुपर विजय दिखावेंगे।

वीरकवि—यहाँ श्रीरामचन्द्रजीका गूढ़ अभिप्राय विभीषणको उपदेश देनेका है, संदेहयुक्त प्रश्न करनेपर कथन **'गूढ़ोत्तर अलंकार'** है।

वि० त्रि०—(१)***'सुनहु सखा'*** भाव कि तुम मेरे भक्त और सखा हो, अतएव इस रहस्यके जाननेके अधिकारी हो—**'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥'** (गीता ४। ३) सखा भक्तसे दुराव नहीं किया जाता। यथा—*'सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ॥'* (गी० ५। ४५) (२) *'सो स्यंदन आना'* का भाव कि रावणके पास जो तुम देखते हो, इस भौतिक रथसे जय नहीं होती। जय देनेवाला तो आध्यात्मिक रथ है और वह भीतर है। वह आध्यात्मिक रथ धर्ममय है, यथा—*'सखा धर्ममय अस रथ जाके।'* [**'यतो धर्मस्ततो जयः'** (प० प० प्र०)] धर्म ही जयदायक रथ है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥ ५॥

शब्दार्थ—**सौरज** (शौर्य)=शूरता, पराक्रम। **चाका** (चक्र)=पहिया। **सील**=चरित्रकी दृढ़ता, सद्वृत्ति। यथा—**'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते'** (विश्वकोश)। **'निष्ठा च शीलं चारित्रं चरित्रं चरितं तथा'** (रत्नकोषाब्द) =सुस्वभाव (प० प० प्र०)। **'शुचौ तु चरिते शीलः'** (अमरकोश) अर्थात् सील=शुचि चरित। पवित्राचरण (पु० रा० कु०), सौम्य स्वभाव।

अर्थ—शौर्य और धैर्य उस रथके पहिये हैं। (भाव कि जैसे चक्रके बिना रथ नहीं चलता, वैसे ही शौर्य और धैर्यके बिना धर्मरथ नहीं चल सकता।) सत्य और शील इसकी मजबूत ध्वजा और पताका हैं॥ ५॥

नोट—१ यहाँ धर्मरथको सावयवरूपकालङ्कारमें कहते हैं। (वै०)

श्रीजानकीदासजी—यहाँ *'सौरज धीरज'* और *'चाका'* में दृढ़ता या अचलताकी समता है। शूर-धीर रणमें पीछे हटा तो शूर नहीं—*'कुल कलंक तेहि………', 'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि॥'* (२। १९१) रावण शूर, धीर था—*'चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अतिकोपी॥'* धर्मरथके चाक पीछे नहीं हटते। भाव कि हम जिस रथपर सवार हैं वह पीछे तिलभर किसीके हटाये नहीं हट सकता। अर्जुन और कर्णादिके रथकी तरह यह रथ पीछे नहीं हटेगा।

पु० रा० कु०—१ **'शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥'** (गीता १८। ४३) अर्थात् क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं—शूरता, तेज, धैर्य, कुशलता, रणसे विमुख न होना, दान और ईश्वर-भावना। पुनश्च, **'रिपौ शौर्यं धैर्यं विपदि विनयः सम्पदि सताम्। इदं वर्त्म भ्रातर्भरत निरतो यास्यसि पदम्॥'** (नाटक) अर्थात् 'शत्रुमें शूरता, विपत्तिमें धैर्य और सम्पत्ति होनेपर नम्रता होनी चाहिये। हे भ्राता भरत! यह सज्जनोंका मार्ग है, इसमें निरत होनेसे उत्तम पद पाओगे।' अन्यथा दोष है, यथा—*'छत्री तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पावँर आना॥'*

नोट—२ युद्धमें निर्भयताके साथ प्रवेश करनेके सामर्थ्यका नाम 'शौर्य' है। आरम्भ किये हुए कर्ममें विघ्न उपस्थित होनेपर भी उसे पूर्ण करनेके सामर्थ्यका नाम 'धैर्य' है—**'शौर्यं युद्धे निर्भयप्रवेशसामर्थ्यम्। धृतिः आरब्धे कर्मणि विघ्नोपनिपाते अपि तत्समापनसामर्थ्यम्॥'** (श्रीरामानुजभाष्य) परमार्थपक्षमें स्वभावका विजय अर्थात् स्वभाव अधर्मकी ओर न जाने पावे तथा परमार्थमें लगा रहे, इसीको शौर्य कहते हैं। यथा—**'स्वभावो विजयः शौर्यम्।'** (भा० ११। १९। ३७; श्रीउद्धवजीसे भगवान्‌ने यह व्याख्या की है।) (बं० पा०)

महाभारतमें बताया है कि 'सुख या दुःख प्राप्त होनेपर मनमें विकार न होना धैर्य है। सदा सत्य बोलने, सदा क्षमा करने तथा हर्ष, भय और क्रोधका परित्याग करनेसे धैर्यकी प्राप्ति होती है।'

वै०—**'सर्वस्माद् भीतिराहित्यं युद्धोत्साहश्च कीर्तये। शूरैः शौर्यमिदं प्रोक्तं राज्ञां स्वर्ग्यं यशस्करम्॥'** (भगवद्गुणदर्पण) अर्थात् कोई कैसा ही बली क्यों न हो, उससे उत्साहपूर्वक युद्ध करना शौर्य है। धर्मके प्रसङ्गमें काम, क्रोध, लोभ, मदादि शत्रु हैं, इनसे युद्ध करनेमें आलस्य, अश्रद्धा, कृपणता आदिका भय त्यागकर कर्म, ज्ञान, भक्ति आदिके साधन निःशंक श्रद्धा-उत्साहसहित करना शौर्य है। *'धीरज'*—काम-क्रोधके महाप्रचण्डवेगजनित उद्वेगके वशीभूत न होकर मनका निष्काम सत्त्वगुणसहित सदा विचारपूर्वक कार्य करना *'धीरज'* है। यथा—**'वेगेनावध्यमानस्त्वममिते कामक्रोधयोः। गदितं धीमतां धैर्यं बले भूयसि तेजसि॥'** ये दोनों पहिये हैं। श्रद्धा धुरा है। शान्ति-सतोगुणकरी हैं। सद्व्यापार अनेक पटरियाँ हैं। थिरता आसन है। पूजा-पाठ-जप-हवन खम्भे हैं। संध्या-तर्पणादि छतुरी हैं।

प० प० प्र०—शौर्य और धैर्य दोनों आवश्यक हैं, केवल एक हो तो जय न होगी। यहाँ *'धीरज'* से सात्त्विक धृतिका ही ग्रहण लक्षित है—**'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥'** (गीता १८। ३३) (अर्थात् जिस अव्यभिचारिणी अचल धृतिके द्वारा मनुष्य योगके उद्देश्यसे प्रवृत्त मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।) आपत्कालमें धीरज और धर्मकी परीक्षा होती है—*'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपतकाल परखिअहिं चारी॥'*, **'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'**

वि० त्रि०—युद्धके रथमें दो पहिये होते थे, चार नहीं। धर्ममय रथके आधार और मतिदाता शौर्य और धैर्य हैं। जो धर्मात्मा तो हैं पर उनमें शौर्य और धैर्यकी त्रुटि है, तो उनका धर्म पङ्गु है, वह उनके निस्तार करनेमें सर्वथा असमर्थ है। तुम्हारे दोनों भाइयोंमेंसे टूटा-फूटा अदृढ़पङ्गुरथ तो तुम्हारे पास है और पहिये तथा एक घोड़ा रावणके पास है, इसलिये तुम दोनोंके एक साथ रहनेसे वह अजेय रहा, यथा—*'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥'* (प्र० सं०)

वे० भू०—प्राचीन कालमें, सवारीके काममें आनेवाले रथोंके दो ही पहिये होते थे, चाहे वे युद्धके हों, चाहे विवाहके। ऋग्वेद-मण्डल १० सूक्त ८५ में वैवाहिक रथका (आलङ्कारिक-आध्यात्मिक) वर्णन

है और मण्डल ६ सूक्त ७५ में सांग्रामिक रथका वर्णन है तथा स्फुटरूपसे और कई जगह रथका वर्णन है। पर सर्वत्र दो ही चक्रोंका वर्णन है। हाँ, सूर्यके रथमें एक ही चक्र और सात घोड़ोंका होना वेदमें वर्णित है; पर वहाँ सातों घोड़ोंके एक ही नाम हैं—**'सप्त युजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।'** (ऋ० १। १६४२) परंतु जब-जब सूर्यके रथको संवत्सरका रूपक दिया गया है तब-तब उसमें सात पहियोंका निर्देश किया गया है—**'सप्तचक्रं वहत्यश्वः।'** (ऋ० १। १४—२) प्राकृत कवियोंने भी सूर्यके रथमें एक ही चक्र और सात घोड़े कहे हैं—**'रथस्यैकं चक्रं भुजगनमिता सप्ततुरगाः**………।' (भोजप्रबन्ध) परंतु वह निराधारपर चलनेवाला रथ है तथा उसे अन्य रथोंमें प्रतिवादस्वरूप जानना चाहिये। सवारीके रथोंमें दो ही पहिये होते थे। शकट (माल ढोनेवाले ठेलों) आदिमें दो, चार, आठ आदि पहिये होते थे।—**'मञ्जूषामष्टचक्रान्तां समूहुस्ते कथञ्चन।'** (वाल्मी० १। ६७। ४)।

प० प० प्र०—*'तेहि रथ चाका'* इति। रथका नाम प्रारम्भमें न देनेसे पाठकोंकी जिज्ञासा-वृत्ति अन्ततक जाग्रत् रहती है। प्रत्येक रथी, महारथी, अतिरथी वीरके रथका कुछ-न-कुछ विशेष नाम रहता था और उसकी ध्वजापर भी उसका कुछ विशेष चिह्न (चित्र) रहता था।

वे० भू०—शौर्य और धैर्यका प्रभाव अर्थात् तज्जनित कार्य दिखायी पड़ता है; परंतु शौर्य और धैर्यका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। हाँ, शौर्य और धैर्य धारणकर्ताका यह गुण सुना जाता है। इसीसे वेदमें अध्यात्म (धर्म) रथका वर्णन करते हुए श्रुति भगवतीने श्रोत्रको रथका चक्र कहा है—**'श्रोत्रं ते चक्रे आस्तम्**………।' (ऋग्० १०। ८५। ११)

वै०—**'प्रधानं धर्मबीजं यद्धितं पूतं प्रियं नृणाम्। गम्भीरं मधुरं वाक्यं सत्यं तच्चोत्तमं विदुः। लब्धोऽर्थार्थी छली धूर्त्तः समर्थो ग्रामकप्रियः। मूर्खो यः सोऽनृतं वक्ति तद्दोषविरही न तु॥'** (भगवद्गुणदर्पण)। अर्थात् प्रधान धर्मबीज, हितकारी, पवित्र, गम्भीर, मधुर, सदा एकरस बोलना ही सत्य वचन है। यह लोभी, धूर्त्त, मूर्ख, खल और छली आदिको असम्भव है। जो इन अवगुणोंसे रहित है, वही सत्य कह सकता है। यथा—*'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुअत छल नाहीं॥'*

शील, यथा—**'हीनैर्दीनमलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽछिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥'** अर्थात् दीन, हीन, मलिन, पापी, दरिद्र कैसा भी अपराधी कोई सामने आवे तो भी उसपर कृपा करके उसका हित करना, उसके छिद्रको न देखना 'शील' है। विशेष बालकाण्ड दोहा २९ *'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान'* में देखिये।

सत्यके विषयमें जो प्रतिज्ञा प्रसिद्ध रहती है, वही चिह्नसहित ध्वजा है। शील सहज स्वभाव है अतः यह सादा पताका है। इनमें जो दृढ़ता है वही दण्ड है, जिससे ये दूरसे देख पड़ते हैं।

नोट—३ महाभारतमें बताया है कि धर्म, सत्य, सदाचार-बल और लक्ष्मी—ये सब 'शील' के ही आधारपर रहते हैं। शील-प्राप्तिके उपाय ये हैं—'मन, वचन, कर्मसे किसीसे भी द्रोह न करे। सबपर दया करे। शक्ति-अनुसार दान दे'—यही शीलका स्वरूप है। जिस तरह जिस कामके करनेसे मानव-समाजमें प्रशंसा हो, वह काम उसी तरह करना चाहिये।

वे० भू०—*'ध्वजा पताका'* इति। *'हरिभक्तिविलास'* में **'हयशीर्ष-पञ्चरात्र'** का प्रमाण देकर लिखा है कि पाँच हाथतकके लम्बे दण्डमें पताका लगावे। यथा—**'पञ्चहस्तप्रमाणं तु ध्वजं कुर्याद्विचक्षणः। द्विपञ्चहस्तदण्डेषु पताकास्तु निवेशयेत्॥'** (ह० भ० वि० १७। १५), रथकी ध्वजा-पताकामें अपना-अपना एक विशेष चिह्न रहता है। भगवान् नारायणका रथ गरुड़ध्वजी है। महाराज दशरथजीके ध्वजमें कोविदार-(कचनार-) वृक्षका चिन्ह था। **'ध्वजबद्धपताकोच्चकोविदारे स्थितस्त्वयम्।'** (आ० रा० सार० ४। ३४) श्रीरामजीके रथध्वजमें हनुमान्‌जीका चिह्न रहता था। श्रीभरतजीको दशरथजीका रथ दिया गया था अतः उसमें कोविदारध्वज था। शेषशायी नारायणावतार होनेसे श्रीलक्ष्मणजीका रथ गरुड़ध्वज ही था। श्रीशत्रुघ्नजीका रथ बाणध्वजसे सुशोभित रहता था। (आ० रा० यात्राकाण्ड)

पु० रा० कु०—'*सत्य*' को दृढ़ ध्वजा कहनेका भाव कि—(क) सत्य सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, इससे बड़ा दूसरा धर्म नहीं। यह सब धर्मोंका मूल है, यथा—'*धर्म न दूसर सत्य समाना।*' (२। ९५। ५), (रा० कु० जा० दा०) '*सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥*' (२। २८। ६), '**नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्। स्थितिर्हि नित्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥**' (महाभारत शान्तिपर्व), '**सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्। दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च। वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥**' (वाल्मी० अ० १०९) (अर्थात् सत्य सबका मूल है, सत्यसे बढ़कर कोई उत्तम पद नहीं। दान, इष्ट, हवन, तपस्वी, तप और वेद-ये सब 'सत्यमूलक' हैं। सत्यसे इनकी प्रतिष्ठा है। अतएव सत्यनिष्ठ होना चाहिये), '**धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि॥**' (वाल्मी० २। १८। २४) पुनः, (ख)—ध्वजासे रथ लक्षित होता है और पताकासे समस्त विजय; वैसे ही सत्यसे धर्म लक्षित होता है, यथा—'**जयति जयपताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्मीः**' इति। (वाल्मी०, गङ्गाष्टकवचन) अर्थात् मोक्षकी लक्ष्मी और जयकी पताकास्वरूप गङ्गाजीकी जय हो! [सत्य बोलना धर्मका एक चरण है। यह ध्वजा है, दूरसे दिखायी देती है। शील नेत्रोंका (मुलाहिजा सब जीवोंका), यह पताका है, जो समीपसे दिखायी देती है। (बं० पा०) पताकाभूषण रूप होती है और '**शीलं परं भूषणम्**' यह समता है। (प० प० प्र०)] '**विद्याभी रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद्वशम्**। अर्थात् रससे रसिकोंको और शीलसे सभीको वश किया जाता है। ('**दृढ़**' विशेषण देकर जनाया कि भौतिक रथकी ध्वजा-पताका गिर जाया करती हैं, पर धर्म-रथकी सत्य-शीलरूपी ध्वजा-पताका दृढ़ होती हैं, यह कभी गिरती नहीं। '*प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥*' (२। २८। ४)

श्रीजानकीदासजी—१ समता यह है कि जैसे रथकी ध्वजा-पताका कटकर गिरनेसे वीरका पराजय सूचित होता है—'*रथ बिभंजि हति केतु पताका।*.........'—वैसे ही सत्य-शीलहीन पुरुष भवरूपी शत्रुसे पराजित समझा जाता है। ध्वाजा-पताका सबसे ऊँचे रहते हैं और सत्य-शील सबमें श्रेष्ठ हैं। दोनोंकी ऊर्ध्वगति है। [सत्यका स्थान मुख है, वाणीहीसे वह जाना जाता है, यथा—'**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**', '*काहे न बोलेहु बचन सँभारें।*.........*सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं। देन कहेहु अब जनि बर देहू॥ तजहु सत्य*.........*॥*' (२। ३०) इसी तरह शीलका स्थान नेत्र है, नेत्रोंसे वह जाना जाता है। यथा—'*गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥*' (३। १३), '*सुखमा सुख सील अयन नयन॥*' (गी० ७। ४) मुख और नेत्र शरीरके उच्च भागमें हैं, वैसे ही ध्वजा और पताका रथके शिरोभागमें रहते हैं।]

वि० त्रि०—'*सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।*' ध्वजा-पताका पहलेसे ही दिखायी देने लगती हैं और रथीके आगमन तथा सुरक्षित रहनेकी सूचक हैं। जहाँ सत्यशीलरूपी ध्वजा-पताका गिरीं, वहीं रथीको भी सङ्कटापन्न समझना पड़ेगा। इसीलिये शत्रुका प्रहार ध्वजा-पताकापर अवश्य होता है। अतएव ध्वजा-पताकारूपी सत्य और शील दृढ़ होना चाहिये। (प्र० स०)

वे० भू०—१ महाभारतमें '*सत्य*' के तेरह उपभेद बताये गये हैं—'**सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत।**' सबका समावेश इतनेमें ही है कि 'जो बात जैसी हो, जैसे देखे, सुने वैसे ही माने और कहे', यही सत्य है। सत्यका माहात्म्य श्रुति बतलाती है कि '**सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः॥**' (मुण्ड० ३। १। ६)

श्रीजानकीदासजी—यहाँ ग्रन्थकारने प्रथम '**चाका**' को वर्णन करके इसमें रथका आदि मूल दिखाया। फिर ध्वजा-पताका कहकर उसका शिरोभाग दिखाया। रथमें किंकिणी, घण्टी और धुरी आदि होती हैं। उनका उल्लेख न करके भी केवल ऊपर और नीचेके भागोंको दिखाकर उनका बीचमें होना जना दिया। विस्तारभयसे उनको नहीं लिखा।

वे० भू० ऋग्वेदके दसवें मण्डलके पचीसवें सूक्तमें रथके छत्र, अक्ष (धुरा), चमक (रङ्ग), छतके खम्भे (अग्रदण्ड) आदि अनेक उपाङ्गोंका वर्णन है। यथा—'**द्यौरासीदुतच्छदि**.........**॥**' (१०), '**व्यानो अक्ष आदृत॥**' (१२), 'कुरीरंछन्द ओपशम्.........', '**स्तोमा आसन परिधयः॥**' (८) इत्यादि। श्रीरामजीने यहाँ उन

उपाङ्गोंका वर्णन विस्तारपूर्वक नहीं किया। पर, रथमें सबसे नीचे रहनेवाले अवयव चक्र और सबसे ऊपर रहनेवाले अवयव ध्वजा-पताकाका वर्णन करके शब्दशास्त्रके 'आदिरन्त्येन सहेता।' (पाणिनीय अष्टाध्यायी १। १। ७१), इस नियमानुसार मध्यके सभी उपाङ्गोंका समावेश कर दिया।

बं० पा०—प्राय: इसी भाँतिकी शिक्षा महाभारत-युद्धके समय युधिष्ठिरजीको विदुरजीने दी थी। भेद केवल इतना है कि गोस्वामीजीने रथके रूपकसे कहा है और भारतमें नदीके ऊपर (रूपकसे) कहा है, यथा—'**आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मि:। तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥**'

अर्थात् जिस आत्म-नदीका संयम पवित्र तीर्थ है, सत्य जल है, शील तट है और दया तरङ्ग है, हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! उसी नदीमें स्नान करो, अन्तरात्मा जलसे नहीं शुद्ध होती है।

वे० भू०—युद्धमें शत्रु अपने प्रतिद्वन्द्वीके ध्वजा-पताकाको नष्ट कर देना चाहता है, जिसमें उसके दलके लोग अपने सेनानीको पराजित जानकर हतोत्साह होकर भागने लगें। इसी तरह माया कटकके सेनानी सर्वप्रथम जीवके सत्त्व और शीलको नष्ट करते हैं, इनके नष्ट होनेपर धर्मके अन्यान्य अङ्गोपाङ्ग नष्टप्राय ही माने जाते हैं। अत: संसार जिगीषु पुरुषमें सत्य और शील दोनों अत्यन्त दृढ़ होने चाहिये।

बल बिबेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥ ६॥

शब्दार्थ—**समता**=शत्रु, मित्र, मान-अपमान आदिको एक समान मानना। यथा—'**सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो:।**' (गीता)=राग-द्वेष तथा काम-क्रोधको मिटाकर, अपनेमें, अपने प्रिय मित्र तथा शत्रुमें समान भाव रखना। (महाभारत)

अर्थ—बल, विवेक, दम और परहित—ये धर्मरथके चारों घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समतारूपी डोरीसे रथमें जोड़े गये हैं॥ ६॥

नोट—१ '*बल*' इति। श्रीबंदन पाठकजी लिखते हैं कि '*बल*' से यहाँ देह-बलका प्रयोजन नहीं है। उत्तरकाण्डमें वैराग्यको बल कहा है, यथा—'*जब उर बल बिराग अधिकाई॥*' (७। १२२) पर वैराग्यको आगे ढालसे रूपक दिया है। इसलिये यहाँ बलसे प्राणायाम-बल अभिप्रेत है। यथा—'**प्राणायाम: परं बलं॥**' (भा० ११। १९। ३९)

बैजनाथजी कहते हैं कि 'कैसा ही कोई दुर्घट कार्य क्यों न हो, उसके करनेमें परिश्रम न होना बलका लक्षण है। यथा—'**क्रियायामस्य गुर्व्यान्तु खेदाभावो बलं गुण:।**' यहाँ धर्मप्रसङ्ग है, अत: यहाँ सुकृत तपोबल अभिप्रेत है।'

वे० भू० जी लिखते हैं कि '*बल*' शब्द मानसमें कई अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे, (१) वैराग्य-अर्थमें, यथा—'*जब उर बल बिराग अधिकाई*'; (२) शारीरिक बल, यथा—'राम बाहुबल सिंधु अपारू', 'सागरु रघुबर बाहु बलु॥' (१। २६१। १), '*निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा॥*' (७७। ६); (३) बुद्धि-बल, यथा—'*बुधि बल निसिचर परै न पार्‍यौ।*' (४) तपाधिक्य, यथा—'*तप बल बिप्र सदा बरियारा*'। (५) सैन्यबल, यथा—'*तुम्हरे बल मैं रावन मार्‍यो।*' और (६) आत्मबल, यथा—'*गर्जा अति अन्तर्बल थाका।*' यहाँ शारीरिक-बल (शौरज) को चाका कह चुके और आगे वैराग्यको ढाल तथा बुद्धिको प्रचण्ड शक्ति कहा है। दम, विवेक और ईशभजन भी आगे कहे हैं, जो तप ही हैं (**यस्य ज्ञानमयं तप:**)। सैन्यबल तो रावणसे प्रबल ही है और अब तो श्रीरामदल उस रावणदलसे अधिक ही है। अतएव यहाँ बलसे ये पाँच बल अभिप्रेत नहीं हैं। यहाँ छठे 'आत्मबल' से ही तात्पर्य है। प्राणायाम-बल ही आत्मबल है।

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि धर्ममें आत्मबल न होनेसे वह नहीं चलता, मनुष्य उसे किंचित् विघ्न आदिसे अधूरा ही छोड़ बैठता है। आत्मबल बुद्धि आदिसे परे जीवात्माको अन्तर्यामीसे प्राप्त कर्तव्यशक्तिको कहते हैं।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि महाभारत-उद्योगपर्वमें बल पाँच प्रकारका कहा गया है—'**बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे। यत्तद्बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते। धनलाभस्तृतीयं तु बलमाहुर्जिगीषया॥ यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्। अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं**

स्मृतम्॥ येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत। यद्बलानामपि बलं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते॥' (अध्या० ३७। ५२—५४)

अर्थात् पुरुषोंमें पाँच प्रकारका बल होता है, सो सुनो। बाहुबल साधारण (छोटा) बल है। सत्-मन्त्रीका बल दूसरा बल कहलाता है। ऐश्वर्यका बल तीसरा है, ऐसा विद्वान् कहते हैं। जो पितामहके समयसे सहज ही चला आता है वह अभिजात (लौकिक) बल है, यह चौथा है। हे भारत! जिससे ये सब बल प्राप्त होते हैं और जो बलका भी बल है, वह बुद्धिका बल है।

प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ बलसे उपर्युक्त पाँचों बलोंका ग्रहण करना चाहिये। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन**', '**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**', '**दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या**', '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' (शरीर ही दुर्बल हो तो शौर्य-धैर्य आदि अकिंचित्कर होंगे) '**बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।**' आधिभौतिक बल, आधिदैविक बल और आध्यात्मिक बलका समन्वय चाहिये। '**धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।**' बल=तेज, यथा—'*तेज निधान लषन पुनि तैसे*', '*बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।*'

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि 'महाभारतोक्त अमात्यबल, धनबल, पितृ-पैतामहबल (कुलबल) और जाति (वर्ण) बलका प्रयोजन संसार-(माया-) विजयमें रहता ही नहीं, और श्रीराम-रावण-युद्धमें भी उन बलोंका कोई मूल्य नहीं, तथा प्रज्ञाबल तो 'बुद्धि-शक्ति-प्रचंड' ही है। वाल्मीकीयमें ब्रह्मबलको क्षात्रबलसे श्रेष्ठतम बतलाया गया है। यथा—'**क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत्। पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन।**', '**धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।**' (१। ४६। ४, २४) 'क्षत्रियबल' से भारतोक्त पाँचों बलोंका ग्रहण है और 'ब्रह्मबलसे तपबलका ही महत्त्व कहा गया है, यथा—'*तप बल बिप्र सदा बरियारा।*'

अतः इस '**धर्मरथ**' के अश्वोंमें प्रथम बल नामक अश्व आत्मबल ही है। यह आत्मबल आभ्यन्तरिक पञ्चकोशोंमें प्राणमय कोशका आप्यायक होता है।

नोट—२ '*बिबेक*' इति। सत्-असत्का ज्ञान विवेक है। जो वस्तु कालान्तरमें भी कभी परिणाम आदिके कारण होनेवाली किसी अन्य संज्ञाको नहीं प्राप्त होती वही सद्वस्तु है, वह वस्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा है। यथा—'**यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै। परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्॥**' (वि० पु० २। १३। १००) अविनाशी स्वभावका नाम सत्ता है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि।**' (गीता २। १७) विनाशी अर्थात् एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें बदल जानेवाले, स्वभावका ही नाम 'असत्ता' है, जो नाशवान् है एवं जो नाशवान् वस्तुसे उत्पादित है, वह भी नाशवान् है अतः ये दोनों असत् हैं। यथा—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' (गीता २। १६) क्या सत् है और क्या असत्, यह विचारकर सत्को ग्रहण करना विवेकद्वारा ही होता है। विवेक केवल वाग्ज्ञान न हो, नहीं तो वह व्यर्थ ही होगा। यथा—'*बाक ज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न पावै कोई।*'

वे० भू० जी लिखते हैं कि महाभारत शान्तिपर्वके मोक्षधर्मखण्डमें विवेकवानोंके लिये बहुत कुछ विस्तारसे वर्णित है।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ '*बिबेक*' से कार्याकार्य विवेक ('**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**') आत्मानात्मविवेक (विवेकसे श्रद्धा और विश्वास लब्ध होता है), सदसद्विवेक, सारासारविवेक और हिताहित आदि सभी विवेकोंका ग्रहण है।

नोट—३ '*दम*'=बाह्यवृत्तिका निग्रह। यथा—'**निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते**' (अपरोक्षानुभूति बं० पा०)। '**इन्द्रियनिग्रहं दमः**' इन्द्रियोंको कठोरतापूर्वक दबा देना, पञ्चविषयोंसे बलात् हटाकर उन्हें भगवान्‌में लगा देनेका नाम दम है। निश्चय कर ले कि '*श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गइहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईस ही नइहौं॥*' (वि०) (वे० भू०) महाभारत शान्तिपर्वमें कहा है कि दम (इन्द्रियदमन) के समान संसारमें दूसरा धर्म सुननेमें नहीं आता। यथा—'**दमेन सदृशो धर्मो नान्यो लोकेषु विश्रुतः।**' शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० १६० देखिये। (क्षु० रा० कु०)

☞ दूसरेकी वस्तुकी इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना तथा निर्भय और मानसरोगोंसे रहित रहना '*दम*' के लक्षण हैं।

नोट—४ '*परहित*'—निःस्वार्थ दूसरेके साथ भलाई करना परहित है। यह बड़ा भारी धर्म माना गया है। यथा—'*परहित सरिस धर्म नहिं भाई।*' (७। ४१), '*पर उपकार बचन मन काया।*'

वि० त्रि०—१ रथका बहिरंग वर्णन करनेके बाद अब उपयोगी सामग्रीका वर्णन करते हैं। १—बलसे प्राणमय कोशकी पुष्टि होती है, दमसे अन्नमयकी, परमहितसे मनोमयकी और विवेकसे विज्ञानमयकी पुष्टि होती है। ये चारों कोश जबतक स्वस्थ न होंगे, तबतक धर्ममय रथकी गति हो नहीं सकती। बलवान् दमसम्पन्न परहितैकव्रत और विवेकी पुरुष ही धर्ममय रथके भारको वहन कर सकता है। जो निर्बल, विषयी, द्रोही, अविवेकी है, वह शूर, धीर, धर्मध्वज होकर ही क्या कर लेगा? इससे धर्ममय रथ नहीं खींचा जा सकता।

वे० भू०—रथका रूपक वेदके मन्त्र, उपनिषदादि सभी भागोंमें है, महाभारत एवं पुराणोंमें भी है। वेदके संहिताभागमें एक जगह '**शुक्रावनड्वाहास्ताम्**' (ऋ० १०। ८५। ११) में घोड़ा न कहकर बैल कहा गया है, (वैवाहिक रथ होनेसे) चार नहीं अपितु '**शुक्रौ अनड्वाहौ**' दो ही कहा गया है। '**शुक्रौ**'से अनेक विद्वान् प्राणापानको लेते हैं, परंतु कोषकारोंने 'शुक्र' को इन्द्रिय-तेज आदिका पर्याय बतलाया है—'**शुक्रं तेजो रेतसी च बीजं वीर्येन्द्रियाणि च॥**' (अमर०) अतः यहाँ शुक्रोंसे बाह्याभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारकी इन्द्रियोंको ग्रहण करना चाहिये। विवेक और आत्मिक बल अन्तःकरणमें स्थित बैल (या अश्व) है और दम (ज्ञानेन्द्रियजन्य) तथा परहित (कर्मेन्द्रियजन्य होनेसे) बाह्येन्द्रिय स्थित अश्व है—

इस तरह कारणद्वय-भेद होनेसे ऋग्वेदमें '**शुक्रौ**' द्विवचनसे कहा। ऋग्वेदमंडल १० में वैवाहिक रथमें दो बैलोंको जोतना कहा है, परंतु उसी ऋग्वेदके छठे मंडलके पचहत्तरवें सूक्तमें जहाँ संग्राम-साहित्यका वर्णन है, वहाँ सांग्रामिक घोड़ोंका वर्णन है—'**तीव्रन् घोषानम् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वाः रथेभिः सहवाजयन्तः अवक्रामन्त प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूं रनपव्यन्तः॥**' (ऋ० ६। ७५। ७) अर्थात् ज़ोर-जोरसे हिनहिनाते हुए साँड़के समान सुपुष्ट पाणी-रानोंवाले घोड़े सर्वाङ्गसम्पन्न रथके सहित रथीको ले जाते हुए टापोंसे धर्मद्वेषी शत्रुओंको अतिक्रमण करते अर्थात् कुचलते हुए तथा अपने बलका विशेष व्यय न करते हुए (अर्थात् अनायास ही) नाश कर देते हैं।

कृष्णयजुर्वेदीय कठोपनिषद् (१। ३। ३—९) एवं महाभारत (उद्योगपर्व ३४। ५९-६०) में अध्यात्म (धर्म) रथका वर्णन करते हुए इन्द्रियोंको ही अश्व बतलाया गया है।

नोट—५ 'क्षमा'—सर्वथा शक्तिसामर्थ्य होते हुए अपराधोंका दण्ड न देना क्षमा है। पुनः, '**क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वम्**' (इति)। महाभारतके अनुसार द्वन्द्वका सहना क्षमा है। (खर्रा) *कृपा*=निःस्वार्थ दया। करुणा भी इसीके अन्तर्गत है। ***समता***=शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि सबको समान भावसे देखना, समदृष्टि। '***सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती।***'

☞ क्षमा, कृपा और समताको रस्सी कहनेके भाव यह कि—रज्जु स्त्रीलिङ्ग है, बाँधना उसका धर्म है और स्त्री बन्धन होती ही है। धर्मको भी स्वर्णका बन्धन लिखा है—यह समता है।

[स्त्रीरूपी रस्सी पुरुषोंके लिये बन्धन, वैसे ही क्षमा-कृपा-समतारूपी रज्जु बल-विवेकादिके बन्धन हैं। ये चारों पुँल्लिङ्ग हैं।]

नोट—६ रज्जुसे अश्व अपने वशमें रहते हैं। वैसे ही क्षमा-कृपा आदिसे बल-विवेकादि अपने वशमें रहते हैं। रज्जु तीन लरकी बनती है, इसीसे क्षमा, कृपा और समता तीन कहे गये। (खर्रा)।

नोट—७ तीन रस्सियोंसे चार घोड़े कैसे बँधे! उत्तर—रथमें दो घोड़े आगे और दो उनके पीछे हैं। आगेके दो घोड़े दो रस्सियोंसे बँधे हैं और उनके पीछेके दो घोड़े एक रस्सीमें बँधे हैं। आगेके घोड़े दहिने-बायें फेरे जाते हैं और पीछेवाले उनके अधीन चलते हैं, उनको मुरकाना वा फेरना नहीं पड़ता। (श्रीजानकीदासजी)

नोट—८ बं० पा० जी लिखते हैं कि रस्सी तीन लरकी होती है, दो दोनों ओर और एक मध्यमें। क्षमा, दया और समता ये तीनों बल, विवेक, दम और परहित चारोंके साथ हैं। आगेके घोड़े दो रासके सहारे मुड़ते हैं, अतः उनके लिये दो रासोंकी आवश्यकता होती है, पीछेके घोड़े एक ही रासमें जोड़े

जाते हैं, क्योंकि ये आगेवालोंके सहारे चलते हैं।

नोट—९ 'कौन घोड़े आगेके हैं और कौन पीछेके? कौन घोड़ा किस रस्सीसे बँधा है?', इसमें मतभेद है। श्रीजानकीदासजीका मत है कि 'बल और परहित घोड़े आगेके हैं। क्षमारज्जुसे बल बँधा है और कृपासे परहित। बल क्षमाके अधीन है और परहित दयाके अधीन है। विवेक और दम पीछेवाले घोड़े हैं। ये समता-रज्जुसे बँधे हैं। समता न हो तो ज्ञान और इन्द्रियदमन असम्भव हो जायँ।' (पं० रामकुमारजीके मतानुसार विवेक और बल दोनों क्षमासे बँधे हैं। यही मत बं० पा० का है।)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत है कि बल और विवेक आगेके घोड़े हैं, क्षमारज्जुसे जुड़े हैं। निर्बल या अविवेकी पुरुष क्षमा नहीं कर सकता। जहाँ क्षमा है, वहाँ बल और विवेक अवश्य हैं। इसी प्रकार जहाँ कृपा नहीं है वहाँ इन्द्रियदमन या परहितका अभाव है। बिना इन्द्रियदमनके मनुष्य दयावीर नहीं हो सकता।

क्षमाने बल-विवेकको जोड़ा और कृपाने दम-परहितको। अब यदि क्षमा और कृपा जोड़ दी जावें तो चारों घोड़े जुत जाते हैं; अत: क्षमा और कृपाको जोड़नेवाली रज्जु समता है। जहाँ क्षमा या कृपाका अभाव हो, वहाँ समता नहीं रहती। जहाँ क्षमा और कृपा दोनों हैं, वहाँ समता भी अवश्य है। प० प० प्र० जी पं० वि० त्रि० जीसे सहमत हैं।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥ ७॥

शब्दार्थ—सुजान=चतुर। जो मनकी जान ले और रथीके मनके अनुकूल रथ हाँके। (शीला) जो सारथ्यकर्ममें तथा रथीकी रक्षामें प्रवीण पण्डित हो। (बं० पा०)

बिरति=वैराग्य। इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् आत्माके अतिरिक्त समस्त विषयोंमें दोषदर्शनका नाम वैराग्य है। यथा—'**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥**' (गीता १३। ८), '**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।**' मनमें विषयभोगोंकी कामना न होने देना वैराग्य है। सिद्धियों एवं तीनों गुणोंका त्याग परम वैराग्य है। '*कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥*' (३। १५। ८) वैराग्यके दो भेद पर और अवर हैं। परका नाम वशीकार है और यतमान, व्यतिरेक और एकेन्द्रिय अवर हैं। **चर्म**=ढाल, फलक, फल। शिंशुमार, ऊदबिलाव, मगर, सूंस आदि कठोर चर्मवाले जलजन्तु, गैंढा, धेनुक (नीलगाय), हाथी और गायके चाम, खुर, नख, शृङ्ग, दाँत और हड्डीको एकमें मिलाकर एक स्थालीविशेषके आकारका बनाकर उसके भीतर हाथमें पकड़नेके लिये बनता है और ऊपरसे ताम्र; पीतल या सुवर्ण आदिका दृढ़ पत्तल आवरणरूपमें कुछ पुष्टि और सौन्दर्यके लिये लगाया जाता है। (कौटिल्य-अर्थशास्त्र २। १८। १७। वै० भू०)

संतोष=किसी भी मायिक पदार्थकी इच्छा न होना, जो कुछ प्राप्त हो उसीमें प्रसन्न रहना संतोषका लक्षण है। यथा—'***जथालाभ संतोष सदाई***', '***जथा लाभ संतोष।***' (३। ३६। ४), '***गजधन रथधन बाजिधन चिंतामणि धन आन। जब आयो संतोष धन सब धन धूरि समान॥***' (बं० पा०) प्रारब्ध अथवा नीति-धर्मकी रीतिसे व्यापार करके जो लाभ हो, उसीमें निर्वाह करना और किसीकी चाह न करना '**संतोष**' है। (वै०)। 'कृपाण'—अमरकोषमें कृपाणके नौ पर्याय दिये गये हैं—(**तृण्वां**) '**खड्गेषु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्॥**' नीतिप्रकाशिकाके पाँचवें अध्यायमें इसे 'असिधेनु' नाम देकर इसका स्वरूप इस तरह वर्णन किया गया है—एक हाथ लम्बा, हाथको बचानेवाली दण्डीसे रहित मूठवाली, श्यामवर्ण, तीन धारवाली, दो अंगुल चौड़ी, समीपस्थ शत्रुपर प्रहार करने योग्य और मेखलाकी तरह पेटीके साथ कमरमें बाँधी जाती है। इसे खड्गपुत्रिका भी कहते हैं। इसे मुट्ठीसे पकड़कर, लपलपाकर और ताल भाँजकर तीन तरहसे धारण किया जाता है। अग्निपुराणमें कृपाणकी हरण, छेदन, घात, भेदन, रक्षण, यातन और स्फोटन—सात गतियाँ बतायी गयी हैं—'**हरणं छेदनं घातो भेदनं रक्षणं तथा। कृपाणकर्मनिर्दिष्टं यातनं स्फोटनं तथा॥**' (२५२। १७) कौटिल्य-अर्थशास्त्रके अध्यक्ष प्रचार नामक दूसरे अधिकरणके आयुधगणाध्यक्ष नामक

१८ वें अध्यायमें कृपाणकी मूठ खड्ग चौड़ा या महिष (भैंसे) की सींगकी हो, किंवा हाथीदाँतकी हो अथवा दृढ़ काष्ठ या बाँसकी जड़की होती है—'**खड्गा महिषवारणविषाणदारुवेणुमूलानित्सरवः**।'

अर्थ—ईश्वरका भजन चतुर सारथी है। वैराग्य ढाल है और सन्तोष तलवार है॥ ७॥

पु० रा० कु०—१ रथ सारथीके अधीन है तथा धर्मरथ शंभुभजनाधीन है, क्योंकि शिवजी धर्मके मूल हैं, यथा—'**मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः**……'—(कि० मं० श्लो०)। **ईश**=शंभु—'**शंभुरीशः पशुपतिः**।' इति। (अमरकोश), '*मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥*'

सारथी सुजान हो तो शत्रुपर विजय होती है तथा शंभुभजनसे रावणपर विजय हुई, यथा—पाद्मे शिवगीतायां तृतीयेऽध्यायेऽगस्त्यवाक्यं श्रीरामं प्रति—'**दुर्गं यस्यास्ति लङ्काख्यं दुर्जयं देवदानवैः। देवैरजेयं शक्राद्यैर्ब्रह्मणा हरिणापि वा। स ते वध्यः कथं वास्ति शङ्करानुग्रहं विना**॥' अर्थात् देव-दानवसे भी दुर्जय जिसकी लङ्काका कोट है और जो रावण स्वयं इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णुसे भी अजेय है, उसे आप बिना शङ्करकी कृपाके कैसे मार सकते हैं?

प० प० प्र०—**ईस**=शङ्कर। शङ्कर ही गुरुका रूप है—'**गुरुं शङ्कररूपिणम्**' **भजनु**=आश्रय, शरण लेना; यथा—'**यमाश्रित्य**।' '**यमाश्रित्याश्रमेणैव परं पारङ्गता बुधाः**'—(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह), '*सबुइ लाभ जग जीव कहँ भए ईस अनुकूल*', '*संकरभजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥*' इसका फल होगा—'**वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते**।'

वे० भू०—जो ईश्वरका भजन करता है, समय पड़नेपर स्वयं ईश्वर उसकी सहायता करता है। वह सुजान है, उससे कहना नहीं पड़ता, वह स्वयं ही जानकर रक्षा करता है। यथा—'*जनहिं मोर बल*……' '*करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥*' (३। ४३। ५)

यहाँ '*ईस*' शब्दसे किसी देवविशेषका ग्रहण नहीं है, प्रत्युत ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि पदसे वाच्यके लिये ही है।

इस धर्मरथके रूपकमें 'शौरज' 'धीरज' से लेकर '*बिप्र गुरु पूजा*' तक जितना कुछ कर्तव्यरूपसे कहा गया है, वह सब एकमात्र रथी वीर (माया-जिगीषु जीव) ही में होना आवश्यक है। इन सबोंमें ईशभजनको सारथी कहकर स्पष्ट कर दिया कि जीवको सदा भगवद्भजन ही करना चाहिये। समस्त सेना, सेनानी, शस्त्रास्त्र तथा रथके नष्ट हो जानेपर भी यदि सारथी सुजान है तो रथीकी सर्वथा रक्षा करता है। यथा—'*निसि जानि स्यंदन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो।*' इसी तरह शौर्यादि समस्त साधनोंके खण्डित हो जानेपर भी यदि साधकका भगवद्भजनरूपी सारथी ठीक है, सुजान है (अर्थात् भजन अक्षुण्ण चल रहा है); तो वह साधक संसारमें पतित नहीं होता, वरन् संसार-रिपुको जीतकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यथा—'**यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति**॥' (नारदभक्तिसूत्र ४—६)

'*भजन*' इति। भजन-क्रिया दो प्रकारकी है—अनिष्ठिता और निष्ठिता। अनिष्ठिताके छः भेद हैं—'**क्रमेणोत्साहमयी, घनतरला, व्यूढविकल्पा, विषयसंगरा, नियमाक्षमा, रङ्गतरङ्गिणगीति षड्विधा भवन्तीति स्वाधारं विलक्षयति**।' (श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीकृत 'माधुर्य-कादम्बिनी'। २। ५) इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—आरम्भमें साधकको नवीन उत्साह रहता है, अतः उसे 'उत्साहमयी' कहते हैं। उत्साह कभी शिथिल पड़ जानेसे अथवा भजनानन्दमें विभोर होनेसे कभी-कभी नियमका पालन नहीं हो पाता, उस अवस्थाको 'घनतरला' कहते हैं। कभी मनमें संकल्प-विकल्प होने लगते हैं कि परिवारसहित भजन करें अथवा पुण्यक्षेत्रमें रहकर भजन करें, इत्यादि विकल्पकी दशाका नाम 'व्यूढविकल्पा' है। कभी विषयोपभोगमें प्रवृत्ति हो जाती है पर उससे ग्लानि होती रहती है, इसे विषयसंगरा कहते हैं। कभी-कभी नियमबद्ध हो जाते हैं, यद्यपि नियमको पूरा नहीं कर पाते। इस अवस्थाका नाम 'नियमाक्षमा' है। सारे विघ्नोंपर विजय पाकर, भक्तिरङ्गमें रँगकर निरन्तर भजनमें मग्न रहनेकी चरमावस्थाका 'रङ्गतरङ्गिणी' नाम है।—यही अवस्था 'निष्ठिता' है। इस अवस्थाकी प्राप्ति ही भजनकी सुजानता है।

वे० भू०—वेदोंमें सारथीका वर्णन करते हुए कहा है कि 'रथकलातत्त्वज्ञ सारथी रथपर बैठा हुआ जहाँ-जहाँ चाहता है, उस स्थानपर प्रथम अपने मनको ले जाता है। मनमें इच्छा करनेके बाद अपने बाहुओंके पराक्रमको प्रकट करते हुए बड़े कौशलसे, रासके इशारेसे घोड़ोंको ले जाता है।' **'रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथि। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥'** (तै० सं० ४। ६। ६, २, नि० ९। १६ ऋ० ६। १५। ६।' शु० य० २९। ४३)

नोट—१ सारथी रथको स्वामीके अनुकूल चलाता है, उसे लक्ष्यपर पहुँचाता और सब कालमें उसकी रक्षा करता है; वैसे ही ईशभजन जापककी रक्षा करता है और उसके धर्मको निर्विघ्न निबाह देता है। (जा० दा०) ईश्वर-प्रणिधानसे सभी अन्तरायोंका नाश होता है। यथा—*'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। रामसुकृपा बिलोकहिं जेही॥'* (१। ३९। ५) यही ईशभजनरूपी सारथी बल, विवेक, दम और परहित घोड़ोंको यथार्थ मार्गसे चलाता है, नहीं तो घोड़े रथीसहित रथको और अपनेको विपत्तिमें डाल दें। (वि० त्रि०) धर्मका निबाहना यही रथको स्वामीके अनुकूल चलाना है। (जा० दा०)

पं० रामचन्द्र सिरोठिया, सीतानगर (दमोह)—*'ईस भजन सारथी सुजाना'* इति। 'ईश महादेव हैं, उनका भजन है रामनाम। इस रामनामका जप रथका सुजान सारथी है। यहाँ परमेश्वरका भजन सारथी है और जीव रथी है। इसमें शङ्का होती है कि जीव तो बालके अग्रभागसे भी छोटा है, वह रथी कैसे होगा? परंतु जिस प्रकारका रथ कहा गया है, उसके सिद्ध हो जानेपर जीवविग्रहमग्न किशोरमूर्ति है, इसीसे रथी कहा गया है, इसी बातको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं। जैसे हरित कोमल घासमें दूध अति सूक्ष्मरूपसे व्याप्त है। इस दूधको हजार यत्नसे निकालना चाहें तो नहीं निकल सकता, तो क्या यह माना जायगा कि घासमें दूध नहीं है? घाससे उसका दूध निकालनेका असली यत्न गौ है। गौके द्वारा घासका वह सूक्ष्म दूध स्थूल हो जाता है। इस दूधको यदि हम घासमें मिलाना चाहें तो नहीं मिला सकते। अच्छा, अब इस दूधमें सूक्ष्म घृत है जो दूधके मथन करनेसे स्थूलताको प्राप्त होता है। तब दूध छाँछ हो जाता है। फिर घृत छाँछमें नहीं मिल सकता। इसी प्रकार माया दो प्रकारकी है—विद्या और अविद्या। अविद्याके स्थानपर घास और विद्याके स्थानपर दूध समझो। गुरुवाक्य और वेदवाक्यमें विश्वास ही सात्त्विकी श्रद्धा है। यही श्रद्धा गौ है। वेदवेत्ता गुरुके वाक्यमें विश्वास आया कि श्रद्धारूपी गौकी उत्पत्ति हो गयी। इस श्रद्धारूपी गौमें अविद्या पच जाती है। विद्या दूधरूप स्थूलताको प्राप्त होती है। अविद्या कहलाती है, कर्मकाण्ड इत्यादिक। और विद्या ज्ञानकाण्ड समझो। ज्ञान होनेसे कर्मकाण्डका त्याग हो जाता है और दूधरूप ज्ञानकाण्डकी प्राप्ति हो जाती है। फिर दूधरूप ज्ञान अविद्यारूपी कर्मकाण्डमें नहीं मिल सकता, ज्ञानसम्पादित जीव कहलाता है ज्ञानी, इस दूधरूप जीवमें सूक्ष्म आत्मारूप घृत है। इस ज्ञानरूप दूधका मथन करनेसे शुद्ध आत्मारूप स्थूल घृत निकल आता है। याने ईश्वरके शरणागत हो भजन करनेसे स्थूल घृतरूप आत्मा निकल आती है। इस स्थूल आत्माका स्वरूप देखिये—दस अँगुली हैं, दो भुजा हैं, दो पैर हैं, दस अँगुली पैरोंकी हैं, जंघा है, सिर है, मुख है, सुन्दर नित्य किशोरमूर्त्ति है। सबल है। जो आयुध रथके रूपकमें कह आये—परम संतोष कृपाण, दान खड्ग (फरसा), सुबुद्धि प्रचण्डशक्ति, आत्मज्ञान धनुष, शुद्ध वासनाहीन मन तूण, संयम-नियम बाण, विप्रपदपूजा कवच—इनसे संयुक्त है। उस रथपर आरूढ़ रथी है। सामवेदमें प्रमाण भी है—**'दश हस्ताङ्गुलयोर्दश पादा द्वौ बाहू द्वावूरू आत्मैक यक्ष विशङ्कः श्रुतिः इति।'**

अब हमको मालूम हो गया कि 'हमारी आत्मा जो हमारे इस स्थूलशरीरमें सूक्ष्मरूपसे व्याप्त है और जिसका भान हमें हृदयकमलमें सूक्ष्मरूपसे होता है, वह अविद्यामें मिलनेके कारण इतनी सूक्ष्म हो गयी है कि उसे हम या तो खाली प्रकाशकी एक चिनगारी-सी समझते हैं या ऐसी ही कोई छोटी चीज मानते हैं, जिसके शरीर वगैरह कुछ नहीं हैं। हमने अब यह भी मालूम किया कि ईश्वरके भजन करनेसे हमारी असल आत्माका शरीर जो कि ऊपर कथन किया है, जिसके सौन्दर्यके सामने सम्पूर्ण सौन्दर्योंकी कुछ भी गिनती नहीं है, जो जन्म-मरण दुःखालय और अन्य यातनाओंसे रहित है, प्राप्त हो जाता है। ज्ञानादिक इसके पानेके साधन हैं और भगवद्भक्ति आत्मा-शरीरकी जननी है।'

पु० रा० कु०—रथ, घोड़े, रज्जु, घोड़ोंको वशमें रखनेवाला सारथी, ये सब हुए। फिर भी अपनी रक्षाके लिये ढाल और शत्रुपर प्रहार करनेके लिये आयुधके बिना विजय कहाँ? अतः अब इनको कहते हैं। ढालसे देहकी रक्षा होती है तथा वैराग्यसे, कामादि विकारकृत विघ्नोंसे धर्मकी रक्षा होती है। अतः 'वैराग्य' को ढाल कहा। यथा—'**न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः। यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥**' अर्थात् देवराज एवं चक्रवर्ती राजाको भी वह सुख नहीं है, जो एकान्तवासी संसारके विषयोंसे विरक्त मुनियोंको है।

वै० भू०—कितनी ही ढालें ऐसी होती थीं कि उनपर पड़कर शत्रुके शस्त्रतक टूट जाते थे—उचट तो प्रायः सभी शस्त्र जाते थे। ऐसे ही प्रबल तीव्रतम वैराग्यके सामने मायाके प्रायः सभी अस्त्र-शस्त्र उचट जाते हैं।

नोट—२ '*बिरति चर्म*·········' इति। मोह-माया जीवके शत्रु हैं। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन उनके प्रबल सेनापति हैं। ये तीनों शत्रु जीवको सदा पीड़ित करते रहते हैं। यथा—'*काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि॥*' (३। ४३), '*ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादि*·········॥' (७। ७१), '*तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥*' (३। ३८) कामके अस्त्र-शस्त्र स्त्री-नयनकटाक्ष आदि हैं। क्रोधके अस्त्र-शस्त्र कठोर वचन आदि हैं और लोभका बल दम्भ और इच्छा है। यथा—'*लोभकें इच्छा दंभ बल कामकें केवल नारि। क्रोधकें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥*' (३। ३८) कामादि शत्रुओंके इन नारि-नयन-सर, परुष वचन और इच्छा दम्भरूपी हथियारोंकी चोटसे बचनेके लिये वैराग्य ढाल है। वैराग्य ही इनसे रक्षा करता है। (जा० दा०) श्रीसुग्रीवजीने कहा है कि '*सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥*' (४। ७। १६-१७) सुख-सम्पत्ति आदिसे वैराग्य होनेसे ही कामादिसे जीव बचता है। इन (कामादि) शत्रुओंके मरनेपर जिस विजयकी प्राप्ति होती है, वह है 'हरिभक्ति'। यथा—'*बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥*' (७। १२०) इस जयकी प्राप्तिके बाधक '*सुख संपति परिवार बड़ाई*' हैं। इनमेंसे सबका क्षेत्र विषय-सुख है। इस सुखका छोड़ना ही वैराग्य है। (वि० त्रि०। प्र० सं०)

नोट—३ '*संतोष कृपाना*' इति। निकट आये हुए शत्रुपर कृपाणसे चोट की जाती है। यहाँ संतोष कृपाण है। जितनी सुखकी सामग्री अत्यन्त निकट है, प्राप्त हो चुकी है, उतनेसे बस कर लेना संतोष है। '*आठँव जथा लाभ संतोषा।*' (वि० त्रि०। प्र० सं०)

संतोषको कृपाण कहा। कृपाण द्विधारा खड्गको कहते हैं। वह दहिने, बायें और सामने तीनों ओर चलती और मारती है। लोभ, काम और क्रोध—ये तीन शत्रु दहिने, बायें और सामनेके हैं। कामका बल स्त्री है और स्त्री अर्धाङ्गिणी कही गयी है, यह पुरुषके वामाङ्गमें रहती है, अतः यह बायीं ओरका शत्रु है। क्रोधका बल परुष वचन है, वचन सम्मुख कहा जाता है। यथा—'*तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत सनमुख धावा॥ जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं॥*' (८९। २-३), '*जौं कोउ कोप भरै मुख बैना। सनमुख हनै गिरा सर पैना॥*' (वै० सं० ४९) अतः यह सामनेका शत्रु है। लोभका बल दम्भ है। लोभका व्यवहार दाहिने हाथसे होता है। अतः यह शत्रु दाहिनी ओरसे आनेवाला हुआ। संतोषरूपी कृपाणसे ये तीनों मारे जाते हैं।—'*जिमि लोभहि सोषइ संतोषा।*' (४। १६। ३), '*बिनु संतोष न काम नसाहीं।*' (७। ९०), '*नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥*' (१। २७४) तीन ओरसे वैरी आता है और एक ओर तो यह खड़ा ही है, अतः चौथी दिशा न कही। (जा० दा०, शीला)

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥ ८॥

अर्थ—दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन कोदण्ड (धनुष) है॥ ८॥

शब्दार्थ—'**दान**'=अपनी वस्तु दूसरेको देना। अन्नदान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। दानमें देशकाल-पात्रापात्रका विचार भी बताया गया है। गीता १७ में सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारके दानोंका वर्णन है। महाभारतमें विस्तारसे वर्णन करते हुए बताया है कि भूखेको भोजन और प्यासेको पानी देनेके अतिरिक्त, अन्य सभी दानोंमें पात्रापात्रका विचार कर लेना चाहिये। कलिमें येनकेन प्रकारेण दान कल्याणप्रद कहा गया है। '**परसु**'—औशनस धनुर्वेदके लक्षणप्रकरणमें शुक्राचार्यने परशुके सम्बन्धमें बताया है कि—(१) परशु अस्त्र भी है और शस्त्र भी। सपाणि (हाथमें लिये हुए वार करनेवाला) और पाणिमुक्त (हाथसे फेंककर वार करनेवाला)। (२) ५० पलवाला उत्तम, ४० वाला मध्यम और ३० पल तोलवाला कनिष्ठ है। (३) ४$\frac{१}{२}$अंगुल चौड़े मूलवाला उत्तम, ३$\frac{१}{२}$ अंगुलका मध्यम और २$\frac{१}{२}$ वाला कनिष्ठ। इसी तरह १२, १० और ८ अंगुलके परशु उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं। (४) १५ अंगुल लम्बा फलवाला उत्तम, १३$\frac{१}{२}$ का मध्यम और १२ का अधम है। (५) परशुका दण्ड (बेंट) सल्लकी, धवा, अशोक, अर्जुन, शीशम आदि उत्तम यज्ञीय एवं पुष्ट वृक्षोंका हो। जैसे कृपाणके देवता काल, ढालकी देवता दुर्गा, इसी तरह परशुके देवता गणेश और शक्तिके ब्रह्म हैं। शक्ति—कौटिल्य-अर्थशास्त्रमें चाणक्यने शक्तिसे शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक, भिण्डिपाल, शूल, तोमर, वाराह, कर्ण, कर्णय, कर्पण, त्रासिकादीनि चहल मुखानि। (२१८। ८) एक दर्जन आयुधोंका ग्रहण करना बतलाया है। शस्त्रसाहित्यके विभिन्न ग्रन्थोंमें इसका बहुत बड़ा वर्णन है। शक्तिका प्रधान आकार नीतिप्रकाशिकाके पाँचवें अध्यायमें यह वर्णित है कि शक्ति नामक आयुधका सारा शरीर लोहमय, शिरोभाग तीक्ष्ण एवं षट्-फलक (छ: धारवाला) होता है। यह अस्त्र और शस्त्र दोनों हैं। यह आयुध पाँच हाथ लम्बा, गोल फल और भयङ्कर होता है। इसकी उड्डीन, अवडीन, निडीन भूमि डीनक, तिर्यग्लीनक और निरवात—ये छ: गतियाँ हैं। आकार-भेदसे इसीके दर्जनों विभिन्न नाम हैं। जैसे—सम्पूर्ण लौहमय करबीर (कनैर) के पत्तेके आकारका दण्ड एवं षट्-फलकको शक्ति कहते हैं, पाँच हाथ लम्बे काष्ठ-दण्डमें चौबीस अंगुल लम्बे दो धारके फलवालेको 'प्रास', सात हाथ लम्बे दण्डवालेको कुन्त (पासांगि), छ: हाथ दण्ड एवं फलमें तीन काँटेवालेको 'हाटक', मोटे फलवालेको 'भिण्डिपाल', बाणतुल्य मुखवाले एवं सात हाथ लम्बे दण्डवालेको 'शूल' (भाला या नेजा), कुछ छोटेको कर्पण, वाराहके कान-सदृश लम्बे फलवालेको 'वाराहकर्ण', बीस, बाईस या चौबीस अंगुलके काँटेदार मूठवालेको कर्णय, चन्द्राकार गोल एवं आराके समान दाँत बने हुए फलवालेको 'तोमर' और प्रासके समान सम्पूर्ण लोहमय दण्ड एवं तीक्ष्ण धारवालेको त्रासिका कहा जाता है।

नोट—१ (क) *'दान परसु'* इति। श्रुतिकी आज्ञा है कि अपने ऐश्वर्यके अनुसार श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा अथवा डरसे, जानकर वा अनजानमें चाहे जैसे दे, पर दान अवश्य देना चाहिये। यथा—'**श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम् श्रिया देयम् ह्रिया देयम् भिया देयम् संविदा देयम् यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्।**' (कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक ७ अनुवादक १३ मन्त्र ३) धनकी उत्तम गति दान ही है। यथा—'**दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥**' (वे० भू०) यहाँ धर्मरथका प्रकरण है। अतएव यहाँ *'दान'* से सात्त्विक दानका ग्रहण हुआ। जो दान फलाभिसन्धिसे रहित होता है और 'देना कर्तव्य है' इस बुद्धिसे श्रेष्ठ देश, काल और पात्रादिमें तथा जिसने कभी उपकार न किया हो, ऐसे मनुष्यको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक बतलाया गया है। यथा—'**दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥**' (गीता १०। २० (पु० रा० कु०) मानसमें बताया गया है कि कलियुगमें सात्त्विक, राजस, तामस किसी भी प्रकारका दान क्यों न हो वह कल्याणप्रद होता है। यथा—*'**प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान। येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान॥**'* (७। १०३) पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड तथा स्कन्दपुराण ना० उ० २२९। ९१ में भी यही कहा है—'**तप: कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानमेव च। द्वापरे तीर्थयात्रां च दानमेव कलौ युगे॥**' इसका मुख्य कारण यह है कि इस युगमें देश-कालपात्रादिका मिलना बहुत कठिन है। (ख) दानको परशु कहा। क्योंकि दानसे समस्त दु:ख कट जाते हैं। यहाँतक कि शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। यथा—'दानेन **भूतानि वशीभवन्ति**

दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्। परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानैर्दानं हि सर्वं व्यसनं निहन्ति॥' 'दाने दुर्गतिक्षयः।' (वे० भू०) दानसे धर्मका मार्ग साफ रहता है। जैसा दे, वैसा पावे। यथा—*'बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा।'* दानसे पाप कटता है, परशुसे वृक्ष और पर्वत कटते हैं। रथका मार्ग वृक्ष और पर्वतसे बन्द हो जाता है। पाप वन और पर्वत हैं। यथा—*'पाप पहार प्रगट भइ सोई', 'तौ क्यों कटत सुकृत नख तें मो पै बिपुल बृंद अघ-बनके।'* (वि० ९६) यह दान और परशुमें साम्य है। (जा० दा०) (ग) तलवार तो अत्यन्त निकटके शत्रुपर चोट करती है। परंतु जहाँ तलवार नहीं पहुँच सकती, वहाँ परशु पहुँच जाता है और जो तलवारका काटा नहीं कटता, उसे परशु काट डालता है। सुखसाधनकी ओर खिंचावको तो संतोष कृपाणने काटा, परंतु प्राप्त सुखसाधनकी ममताको दूर करनेमें सन्तोष असमर्थ है, उसे दान-परशुसे दूर कर सकते हैं। (वि० त्रि०)

नोट—२ *'बुद्धि सक्ति'* इति। (क) धर्मप्रसङ्गानुकूल बुद्धिसे यहाँ सात्त्विक बुद्धिका ग्रहण होगा। जो बुद्धि प्रवृत्ति (लौकिक धर्मके साधनरूप धर्म) और निवृत्ति (मोक्षके साधनरूप धर्म) को ठीक-ठीक समझती है तथा जो कर्तव्य-अकर्तव्यको (अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों धर्मोंमेंसे किसी एकमें स्थित हुए सब वर्णवालोंका देश, काल और अवस्था-विशेषकी अपेक्षासे, 'यह कर्तव्य है' और 'यह अकर्तव्य' है। इस बातको) समझती है, एवं भय और अभयको (अर्थात् शास्त्रविरुद्ध आचरण भयका स्थान है और शास्त्रानुकूल आचरण अभयका स्थान है, इस बातको) और बन्ध-मोक्षको (अर्थात् संसारके यथार्थ स्वरूपको और उससे छूटनेके यथार्थ उपायको भी) जो ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी है। यथा—'**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥**' (गीता १८। ३०), (पं० रा० कु०, श्रीरामानुजभाष्य)। बंदन पाठकजी लिखते हैं कि अष्टाङ्गयुक्त बुद्धि यहाँ अभिप्रेत है, अष्टाङ्ग, यथा—'**शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥**' बैजनाथजी कहते हैं कि '**जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥**' यह षडङ्गयुक्त जो बुद्धि है, वही यहाँ प्रचण्डशक्ति है। (ख) बुद्धि ब्रह्मरूपा है, यथा—'**अहंकार सिव बुद्धि अज**······।' (१५) ब्रह्मा उसका देवता है। इसी तरह शक्तिके देवता भी ब्रह्मा हैं। यह दोनोंमें साम्य है। शक्तिके देवता ब्रह्मा होनेसे ही वह अमोघ है। इसीसे *'ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही।'* (८२) अर्थात् उसने लक्ष्मणजीको भी न छोड़ा तब दूसरेकी क्या चली? वह व्यर्थ न हुई। इसीसे सात्त्विक बुद्धिको शक्ति कहा। पूर्व लिखा जा चुका है कि बुद्धिबल विशेष बल है—'**बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।**' (हितोपदेश, पञ्चतन्त्र) (पं० रा० कु०) (ग) शक्तिकी अनी जितनी पैनी हो उतनी ही वह अच्छी मानी जाती है, वैसे ही बुद्धि भी तीव्र होनी चाहिये। यथा—*'कुल गुरु तिय के मधुर बचन सुनि जनक जुवति मति पैनी। तुलसी सिथिल देह सुधि बुधि करि सहज सनेह बिषैनी॥'* (गी० १। ७९) पैनी होनेमें ही शक्तिकी समता है। (जिसे उत्तरकाण्डमें *'परम सयानी'* कहा है, वही यहाँ अभिप्रेत है, क्योंकि वही मायाके कल-बलपर विजय पा सकती है। यथा—*'होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥'* (७। ११८) बल्कि *'परम सयानी'* से भी उत्कृष्ट हो जो इन्द्रियोंके देवताओंके विघ्नसे भी अकुण्ठित ही बनी रही।) (जा० दा०)

वि० त्रि०—शक्ति अस्त्र-शस्त्र दोनों अर्थात् यह हाथसे भी मारी जाती है और फेंककर भी चलायी जाती है। बुद्धि बरछी है। इससे सुखके साधन तो तुच्छ हो ही जाते हैं, दुःखपर भी इसकी गहरी चोट बैठती है। यथा—*'एहि ते बिपरीत क्रिया करिये। दुख सो सुख मानि सुखी चरिये॥'*

नोट—३ *'बर बिग्यान'* से विशुद्ध विज्ञान अभिप्रेत है जैसा हनुमान्‌जी, वाल्मीकिजी, शुकदेवजी आदिका है, यथा—'**वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ**'—(बा० मं० श्लो०)। (सोऽहमस्मिवाला) विज्ञान काम-क्रोधादिके अधीन हो जाता है। यथा—*'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ॥'* (आ० ३८), *'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिकल होइ*

हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट।' (उ० ११५) वर विज्ञान वह है, जिसमें विज्ञान प्राप्त होनेपर भी भक्तिका आश्रय लिया जाता है, यथा—*'यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (आ० ४३। १०), *'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहि भगति सकल सुखखानी॥'* (उ० ११६। ८)

भक्ति होनेसे ही श्रीशुकदेव, नारद और सनकादिजी विज्ञानविशारद कहे गये हैं। यथा—*'सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनि बर बिज्ञान बिसारद॥'* शुकदेवजी बड़े भारी विज्ञानी होकर भी कैसे रामोपासक हुए यह उनकी राम-वन्दनासे ही विदित है। विशुद्ध विज्ञान वा वर विज्ञान वही है, जब निर्मल ज्ञान होनेपर श्रीरामभक्ति हृदयमें छायी रहे, यथा—*'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'* (७। १२२। ११) वर (अखंड) विज्ञानी वही है जो श्रीरामपदानुरक्त हो। यथा—*'सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित।'''''''''जाके पद सरोज रति होई॥'* (७। ४९; श्रीवसिष्ठवाक्य)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि प्रभुकी शरण होनेपर भक्तसे यदि असावधानता भी हो जाती है तो वे उसको सँभाल लेते हैं। यथा—**'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥'** (भा० ११। ५। ४१-४२) अर्थात् जो सब प्रकारसे सर्वशरण्य भगवान्‌के शरण, सब प्रकारका तर्क छोड़कर हो जाता है, वह देव, ऋषि, आप्त पुरुष, पितृगणका न किंकर ही रह जाता है और न ऋणी ही। परमेश्वर अपने अनन्य भक्तोंके उन सब पापोंको जो उनसे किसी प्रकारसे हो जाते हैं, उनके हृदयमें बैठकर नष्ट कर देते हैं।

यही बात भगवान् रामजीने मानसमें नारदजीसे कही है, यथा—*'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥', भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।'* (३। ४३) जब प्रभु ही रक्षक हैं तब कौन शत्रु सम्मुख होगा। अतः *'बर बिज्ञान'* को कठिन *'कोदंड'* कहा। कोदंड भी भगवान्‌का ही मुख्य आयुध है।

पु० रा० कु०—श्रेष्ठ विज्ञान वह है जो अनुभवजन्य हो, यथा—**'येन ज्ञानेन संवेत्ति तज्ज्ञानं निश्चितं च मे। विज्ञानं च तदेवैतत्साक्षादनुभवेद्यथा॥'** (अध्यात्म० ३। ४। ३९) अर्थात् जिस ज्ञानसे सम्यक् यथार्थ ज्ञान होता है, हमारे निश्चयमें वही ज्ञान है। अनुभवमें जिस ज्ञानका साक्षात्कार होता है, वह विज्ञान है। भाव यह है कि जैसे शत्रुके विजयनिमित्त श्रेष्ठ धनुष आवश्यक है वैसे ही संसारके विजयनिमित्त वर विज्ञान आवश्यक है। यथा—**'विज्ञानरहितं ज्ञानं नहि बन्धविमोक्षकम्। नहि दीपस्य वार्ताभिस्तमो नश्यति तत्क्षणात्॥'** इति। (मोक्षधर्म) अर्थात् अनुभवरहित जो ज्ञान है, वह बन्धनको छुड़ानेवाला नहीं है। जैसे दीपककी बातोंसे अन्धकार नष्ट नहीं होता। शास्त्रोपदेशजन्य वाक्-ज्ञानमात्रसे भवबन्धन नहीं छूटता। यथा—*'बाक ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई। निसि गृह मध्य दीपकी बातनि तम निवृत्त नहिं होई॥'* (वि०)

जा० दा०—सारासारका ज्ञान होनेपर उस ज्ञानमें लीन होना विज्ञान है। जिस विज्ञानमें भक्ति भी हो, वह 'वर विज्ञान' है।—*'सोइ गुनज्ञ बिज्ञान अखंडित।' '''''''''जाके पदसरोज रति होई।'* कठिन कोदंड वह है जो कभी न टूटे। वैसे ही 'वर विज्ञान' वह है, जिसमें श्रीरामचरणसे कभी जुदाई न हो—यह समता है।

वि० त्रि०—कोदंड बहुत दूरतक मार करता है। विज्ञानसे कोई शिल्पकला न समझ ले, इसलिये 'वर विज्ञान' कहा। विज्ञान ब्रह्मात्मैक्यज्ञानको कहते हैं, यथा—*'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।'* इस धनुषमें भारी भार वहन करनेकी शक्ति है।

वे० भू०—'तैलधारावदनवच्छिन्न-प्रवाहिभक्तिका नाम 'वर विज्ञान' है। समस्त साधनोंमें विज्ञान सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही सांग्रामिक समस्त उपकरणोंमें धनुष सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिये विज्ञानको कठिन (सुपुष्ट) कोदंड कहा है।

श्रुतिने तो धनुषको महाशस्त्र कहा है और भगवदुपासनाको निशित बाण बताया है। यथा—**'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥'** (मुण्डको० २। २। ३) और इसी कारण समस्त सांग्रामिक शास्त्रका नाम 'धनुर्वेद' प्रख्यात है।

'कठिन कोदंडा'—कृपाण अधिक-से-अधिक दो हाथ लम्बी होती है, इसलिये उससे अधिक-से-अधिक तीन हाथतकको दूरवाले शत्रुको मार सकते हैं। यही बात परशुमें है, पर परशुको फेंककर भी उससे सौ हाथतककी दूरीवाले शत्रुको मारा जा सकता है। शक्तिका दण्ड अधिक-से-अधिक सात हाथतक लम्बा होता है, उससे समीपके सात या नौ हाथ तककी दूरीवाले शत्रुओंको और सम्मुख दृश्य शत्रुपर फेंककर तो दो सौ या हजार हाथ तककी दूरका शत्रु मारा जा सकता है, परन्तु धनुषपर तो बाण संधान करके, लक्ष्य, शब्दवेधसे किंवा मन्त्रित करके दृश्यादृश्यरूपमें शत्रु चाहे जितनी दूरपर हो, मारा जा सकता है। बाणके समान दूर जानेवाला कोई भी शस्त्रास्त्र नहीं है। इसीसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठायुधोंका वर्णन किया गया। धनुष कठिन अर्थात् अत्यन्त पुष्ट होना चाहिये। कठिन (अत्यन्त पुष्ट) धनुषसे संग्राम जीता जा सकता है, ऐसा वेदका निर्देश है। यथा—'**धन्वनागा धन्वना आजिं जयेम धन्वना तीव्राः समिदोजयेम। धनुः शत्रोरप कामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम**॥' (ऋ० ६। ७५। २ शु० य० २९। २९ तै० सं० ४। ६। ६। १। नि० ९। १७)

(**धन्वना**) धनुषसे (**तीव्राः**) हम सबसे बड़े होकर (**समिदः**) कामादिके ठाने हुए संग्रामको (**जयेम**) जीतेंगे। (**धन्वनागाः**) धनुषसे पृथ्वीको किंवा इन्द्रियोंको (**जयेम**) जीतेंगे। (**धन्वना आजिं जयेम**) धनुषसे संग्राम किंवा अर्चिरादि मार्गको जीत लेंगे (**धनुः शत्रोः कामम्**) धनुष शत्रुका एवं कामका (**अपकृणोति**) नाश करता है, अतः (**धन्वना सर्वाः प्रदिशः जयेम**) धनुषसे सारी दिशाओंको जीत लूँगा। इन मन्त्रका विस्तृत अर्थ 'वेदोंमें रामकथा' नामक पुस्तकमें दिया है।

शीला—निर्गुणकी उपासना कठिन कोदण्ड नहीं है। वह टूट जाता है क्योंकि उसमें जीव और ब्रह्मकी एकताका भाव रहता है। सेवक-सेव्य-भाव कठिन कोदण्ड है जो कामादिक वैरियोंसे कट नहीं सकता।

वै० भू०—कठिन कोदंड कहकर जनाया कि धनुष और प्रत्यञ्चा दोनों सुपुष्ट हों कि किसी तरह शत्रुके काटे न कटे। इसी तरह वर विज्ञान तो धनुष और भक्ति उसकी प्रत्यञ्चा है। धनुष और प्रत्यञ्चा बिना एक-दूसरेके व्यर्थ हैं; वैसे ही विज्ञान और प्रेमाभक्तिका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—*'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। कर्नधार बिनु जिमि जलजानू॥'*

श्रीरामजीका प्रधानायुध धनुर्बाण है और श्रीरामावतारके प्रधान शत्रु रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद हैं, जिन्हें श्रीरामलक्ष्मणजीने धनुर्बाणसे ही मारा। इसी तरह जीवके प्रबल शत्रु मोहरूपी रावण, अहङ्काररूपी कुम्भकर्ण और कामरूपी मेघनाद हैं—*'मोह दसमौलि तदभ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी।'* (वि०) इनको जीव तभी जीत सकता है जब प्रेमभक्तियुक्त विज्ञान परिपुष्ट हो। श्रीरामजीका धनुष *'कठिन कोदंड'* है। यथा—*'बिहसि कठिन कोदंड चढ़ावा।'* (३। १८)

प० प० प्र०—**बर बिज्ञान**=ज्ञानयुक्त भक्ति। श्रीरामजी यहाँ माधुर्य-भावमें हैं। इसलिये वे स्पष्टरूपसे भक्तिका उल्लेख नहीं करते। उनका स्वभाव है कि जहाँ भक्तिका वर्णन करनेका अवसर आ जाता है वहाँ वे माधुर्य-भावको सँभाल नहीं सकते। *'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई।'* (३। १६। २) देखिये। *'कठिन कोदंड'* यथा—*'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।'* (३। १८ छंद)

अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥ ९॥

अर्थ—निर्मल और अचल मन तरकसके समान है। शम, यम और नियम अनेक बाण हैं॥ ९॥

पु० रा० कु०—१ *'अमल अचल मन……।'* अर्थात् विषयरसरूखा, विषयोंसे विरक्त और चञ्चलतारहित निज वशवर्त्ती। यथा—*'काई बिषय मुकुर मन लागी।'* (१। ११५। १) और *'निर्मल मन अहीर निज दासा॥'* (७। ११७। १२) पुनः, यथा—'**विषयेष्वेव संरागो मनसो मल उच्यते। तेष्वेव हतसङ्गस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्**॥' (स्कन्दपुराण) अर्थात् विषयोंमें अनुराग ही मनका मल है। विषयोंमें जिनका चित्त नहीं लगा है, उनको निर्मल मन कहते हैं। समल मनवालेको शत्रुपर विजय पानेकी योग्यता नहीं, उसमें यम-नियमकी सम्भावना कहाँ?

'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥'

(गीता २। ६४-६५)

नोट—१ [विषयरूपी मल मनको मलिन किये रहता है। यथा—'*बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥*' (७। १२२। ४) मलिन हृदयको सुख-शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। यथा—'*हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे।*' इसके निर्मल होनेका एकमात्र उपाय श्रीरामचरणानुराग है। यथा—'*रामचरन अनुराग नीर बिनु अति मल नास न पावै॥*' (वि० ८२), '*प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥*' (७। ४९। ६)]

जैसे चञ्चलको रस्सीसे बाँध देनेसे वह अचल हो जाता है, वैसे ही समस्त विषयोंसे मनको हटाकर उसे प्रभुपदमें लगा देनेसे वह बँध जायगा। अचल हो जायगा। परमात्माको ही अपना निरतिशय प्रयोजन समझकर उनमें लग जानेसे मन उसीमें नियंत्रित वा निश्चल हो जाता है और समस्त भोगोंमें निःस्पृह हो जाता है। निश्चलकी उपमा गीतामें वायुरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी दी गयी है, जो हिलता-डोलता नहीं और प्रकाशयुक्त रहता है। यथा—'**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥**' (गीता ६। १८), '**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।**..........।' निर्मल होनेपर मन अचल होता है, अतः '*अमल*' कहकर अचल कहा।

वे० भू०—वेदोंमें भी आज्ञा है '**यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्। तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।**' (ऋ० १०। ५८। १२) अर्थात् जो तुम्हारा मन भूतकी बातोंको सोचते और भविष्यका चिन्तन करते हुए बहुत दूर चला गया है (अर्थात् एक-न-एक विचारमें घूमा ही करता है), उस चञ्चल मनको यहाँ एक स्थानपर लौटाकर केन्द्रित करो, यदि तुम अक्षय सुखको चाहते हो।

नोट—२ (क) 'शम, यम, नियम' इति। अन्तःकरण तथा अन्तर-इन्द्रियोंको वशमें करना 'शम' है। यम=चित्तको धर्मकार्यमें स्थिर रखनेवाले कर्मोंका साधन। नियम=शौच-संतोष आदि क्रियाओंका पालन करना और उनको ईश्वरार्पण करना। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें यम और नियम दस-दस प्रकारके कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें बारह कहे हैं। मनुने पाँच कहे हैं। विशेष—'*सम जम नियमफूल फल ग्याना॥*' (१। ३८। १४) में देखिये। यहाँ '*सिलीमुख नाना*' के सम्बन्धसे भा० ११। १९। ३३—३५ वाले बारह यम और नियम लेना चाहिये। क्योंकि इसीमें सबसे अधिक संख्या है।

(ख) '*सिलीमुख नाना*' इति। बाण नाना आकार-प्रकारके होते हैं। शिलापर घिसकर इनके मुख चोखे—पैने किये जाते हैं, इसीसे वे '*सिलीमुख*' कहलाते हैं। बाण मन्त्रान्वित भी होते हैं। (विस्तृत वर्णन वाल्मी० १। सर्ग० २७-२८) में देखिये। आकार-प्रकारादिके संबन्धमें कौटिल्य २। १८। १२ देखिये। (वे० भू०)

पु० रा० कु०—शम, यम और नियमका आधार निर्मल मन है, जैसे बाणका आधार तूण है। पुनः भाव कि जैसे बिना बाणके धनुष और बिना धनुषके बाण निरर्थक है, वैसे ही शमादिक बिना विज्ञान और विज्ञान बिना शमादि निरर्थक हैं।

जा० दा०—त्रोणमें अनेक बाण, मनमें अनेक मनोरथ और मनोरथोंके कारण अनेक तन, यथा—'*मन महँ जथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये*'—(विनय०), '*ज्यों मन माहि मनोरथ गोई।*' त्रोणमें बाण अनेक प्रकारके, मनमें तन और मनोरथ नाना प्रकारके—यह समता है।

नोट—३ शम, यम और नियमको '*सिलीमुख नाना*' कहा, क्योंकि शमादिके बहुतसे अङ्ग हैं। जैसे बाणके सामने शत्रु आते डरते हैं, वैसे ही संयम-नियममें जो दृढ़ हैं, उनके पास पापरूपी शत्रु आते डरते हैं। संयम, यथा—'*संजम यह न बिषय की आसा।*' नेम, यथा—'*करि प्रेम निरंतर नेम लिये। पद पंकज सेवत सुद्ध हिये॥*' शस्त्रधारीसे विरोधमें कल्याण नहीं, यथा—'*नवहिं बिरोधे नहिं कल्याना। सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी॥*' तब बाणकी समता कौन करेगा? वैसे ही संयम-नियमादिके सामने विषय नहीं ठहर सकते, यथा—'*देखि लोग सकुचाहिं जमी से।*'—यह समता है।

वि० त्रि०—यहाँपर संयमके नियमोंको बाण कहा है। संयमसे पृथक् नियमका ग्रहण करनेसे पुनरुक्ति होगी। एक तरकशमें ३० तीर होते हैं। संयमके नियम भी ३० हैं। ये संयम जब '*बर बिज्ञान*' पर आरूढ़ हों तब अशेष शत्रुओंका नाश कर सकते हैं।

वि० त्रि०—*'सम यम नियम'* नाना प्रकारके बाण हैं। बाण लक्ष्य-वेध करता है, भीतर प्रवेश करता है। एक तरकशमें तीस बाण रहते हैं जैसा कि पहेलीमें कहा गया है। यथा—*'तीस तीस मिलि बिलमें बसैं। पंख नहीं भरु उड़के डसैं॥'* धारणा, ध्यान, समाधि तीनोंको इकट्ठा करके 'संयम' कहते हैं। समाधि जय करनेसे प्रज्ञालोक होता है। इस प्रज्ञालोकको योगी जिस विषयपर डालता है, उसीका सम्यक्-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यथा—*'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥'* यहाँ समाधिके नियमोंको बाण कहा—और उनकी तीस संख्या कही। पातञ्जलयोग विभूतिपादमें भी ठीक तीस संख्यक विभूतियाँ हैं, जो संयमसे प्राप्त होती हैं और प्रत्येककी प्राप्तिके लिये पृथक् नियम हैं। एवं संयम-नियम भी तीस ही हैं।

(१) सर्वार्थताके क्षय और एकाग्रताके उदयसे चित्तका समाधि-परिणाम होता है, इसी भाँति भूत और इन्द्रियोंमें धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम होता है, इन तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत-भविष्यका ज्ञान होता है, यथा—*'तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनि नाथा।'* (२) शब्द, अर्थ और प्रत्ययोंके परस्पर अध्याससे जो मेल है, उसके विभागपर संयम करनेसे सब प्राणियोंकी बोलीका ज्ञान होता है, यथा—*'अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ। तिन्ह के मन अति बिस्मय भयऊ॥'* (३) संस्कारोंके साक्षात्कार करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है, यथा—*'बाल्मीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥'* (४) चित्तवृत्तिके संयमसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है, यथा—*'नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं॥'* (५) कायरूपके संयमसे, उसके ग्राह्य शक्तिके रुकनेपर चक्षुके प्रकाशका सम्प्रयोग न होनेसे योगी अन्तर्धान होता है, यथा—*'अंतरधान भए अस भाखी।'* (६) कर्म दो प्रकारका होता है, एक शीघ्र फल देनेवाला, दूसरा देरसे फल देनेवाला, उनपर संयम करनेसे अरिष्टोंद्वारा मरनेका ज्ञान होता है, यथा—*'निकट कालु जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाईं॥'* (७) मैत्री-करुणा-मुदितामें संयम करनेसे योगीको मित्रता आदि बल होता है, यथा—*'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥'* (८) बलोंमें संयम करनेसे हाथीका बल होता है, यथा—*'अमित नाग बल बिपुल बिसाला।'* बलका नाप हस्ति-बलसे है, जैसे आजकल अश्वबलसे नाप होता है। (९) संयमद्वारा ज्योतिष्मती (अस्मत्तामात्राकी) प्रवृत्तिको जीतकर, उसके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्टका ज्ञान होता है, यथा—*'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥'* (१०) सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है, यथा—*'बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा।'* (११) चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराव्यूहका ज्ञान होता है, यथा—*'अगनित उडगन रबि रजनीसा।'* (१२) ध्रुवमें संयम करनेसे उनकी गतिका ज्ञान होता है, यथा—*'ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग। होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग॥'* (१३) नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीर-रचनाका ज्ञान होता है, यथा—*'नर तन सम नहिं कवनिउ देही।'* शरीरकी रचना ही ऐसी है। (१४) कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूख-प्यासकी निवृत्ति होती है, यथा—*'संबत सस सहस्त्र पुनि रहे समीर अधार।'* (१५) कूर्म-नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है, यथा—*'भूमि न छाड़त कपि चरन।'* (१६) मूर्द्धज्योतिके संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है, यथा—*'नारदादि सनकादि मुनीसा।'* (१७) प्रतिभासे सब ज्ञान होता है, यथा—*'गुरु बिबेक सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना॥'* (१८) हृदयमें संयमसे चित्तका ज्ञान होता है, यथा—*'मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी।'* (१९) बुद्धि और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, इनके भेदरहित बोधसे भोग सिद्ध होता है, पर यह भोग बुद्धिके लिये है, अपने लिये न जानकर, अपनेको बुद्धिसे पृथक् जानकर, संयम करनेसे आत्मज्ञान होता है। यथा—*'मैं तैं मेट्यो मोह तब ऊगो आतम भानु।'* (२०) बन्धकारण शिथिल होनेसे और प्रचार-सम्वेदनसे चित्तका पर-शरीरमें प्रवेश होता है, यथा—*'तीय अधर बुधि रानि।'* (२१) उदानके जीतनेसे जल, कीच, काँटा आदिसे असङ्ग और इच्छा-मरण होता है, यथा—*'तजौं न तनु निज इच्छा मरना।'* (२२) समानके जयसे तेज होता है, यथा—*'कनक बरन तन तेज बिराजा॥'* (२३) श्रोत्र और आकाश दोनोंके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है, यथा—*'सुनत गिरा बिधि गगन बखानी।'* (२४) शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयमसे और लघु तूल आदिमें संयम होनेसे आकाश-गमन होता है, यथा—*'गगनोपरि हरि गुन गन गाये।'* (२५) अकल्पिता महाविदेहा जो बाहरकी वृत्ति है, उससे प्रकाशके आवरणका क्षय होता है,

यथा—*'प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।'* (२६) स्थूल स्वरूप सूक्ष्म अन्वय, अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतजय होता है, इससे अणिमादिकोंकी उत्पत्ति और काय-सम्पत्ति होती है, यथा—*'सुनतहिं भएउ पर्बताकारा। कनक बरन तन तेज बिराजा॥'* (२७) ग्रहणस्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय होता है। इन्द्रियजयसे मनोजवित्व और विकरणभाव होता है, तथा योगी प्रधानको जीतता है, यथा—**'मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।'** (२८) सत्त्व (बुद्धि) और पुरुषसे भिन्न होनेका जिसे ज्ञान है, केवल उसीको सब भावोंका अधिष्ठाता होना और सबका ज्ञाता होना सिद्ध होता है। उसमें भी वैराग्य होनेसे दोष-बीजोंके नाश होनेपर कैवल्य-मोक्ष होता है। यथा—*'जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥'* (२९) क्षण और उनके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज ज्ञान होता है—*'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।'* (३०) सत्त्व और पुरुष दोनोंकी शुद्धि सम होनेसे मुक्ति होती है। यथा—*'अति दुर्लभ कैवल्य परमपद।'*—इस भाँति विषय-भेदसे 'संयम-नियम' भेद भी तीस प्रकारके हैं। सुगम मार्गसे भगवत्प्राप्ति भक्तियोगसे होती है। (मानस-प्रसंग)

प० प० प्र०—वि० त्रि० की टिप्पणीसे जान पड़ता है कि उनका पाठ 'संयम-नियम' है। यह पाठ विश्वेश्वरप्रेस काशीकी १९३६ सन्‌की छपी पुस्तकका भी है। इस पाठसे पुनरुक्ति दोष नहीं रहेगा। कारण कि 'यम' में 'सत्य' का अन्तर्भाव होता है, जिसका उल्लेख पहले ही आ चुका है। 'नियम' स्वतन्त्र शब्द लेनेसे पुनरुक्ति होगी, कारण कि शौच, संतोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान और तप—ये पाँच नियम हैं, इनमेंसे शौचका शीलसे, ईश्वरप्रणिधानका ईशभजनसे, संतोष और तपका बलसे उल्लेख आ चुका है। अतः 'संयम-नियम' जिनका वर्णन पातञ्जलयोगविभूतिपादमें मिलता है, उनसे यहाँ तात्पर्य है।

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥१०॥

शब्दार्थ—**अभेद** (अभेद्य)=जिसका छेदन न हो सके, जिसके भीतर अस्त्र-शस्त्र न घुस सकें। **कवच**=लोहेके कड़ियोंके जालका बना हुआ पहनावा जिसे योद्धा लड़ाईके समय पहनते थे। जिरह बखतर। ☞कवचसे शरीरके मर्मस्थान ढक जाते हैं। विष्णुगुप्त वात्स्यायन चाणक्यने अपने कौटिल्य-अर्थशास्त्रमें मर्मस्थानोंका निर्देश करते हुए उनपरके कवचों एवं कवचीय प्रत्ययोंका निर्देश किया है जो इस प्रकार है—*'लोह, जाल, जालिका, पट्ट, कवच, सूत्र, कंकट, शिशुम्भर, खंगि, धेनुक, हस्ति, गोचर्म, खुर संवातवर्माणि॥'* (२। १८। १७) **'शिरस्त्राण, कण्ठत्राण, कूर्पास, कंचुक, बारवाण, पट्टनागोदारिका। पेटीचर्म, हस्तिकर्ण, तालमूल, धर्मनिन्दा, कपाटं, किटिगं, बलात, कान्ताश्च आवरणानि॥'** (१८) (वे० भू०)

अर्थ—ब्राह्मण और गुरुकी पूजा अभेद्य कवच है। इसके समान विजयका दूसरा उपाय नहीं है॥ १०॥

पु० रा० कु०—शरीरका रक्षक कवच-सरीखा दूसरा नहीं है, वैसे ही *'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥'* (७। ४५। ७) विप्रपदपूजनरूपी कवच कोई नहीं काट सकता, अर्थात् विप्र-सेवकके ऊपर सुर, नर, मुनि सब अनुकूल रहा करते हैं—*'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'* (आ० ३३), *'सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥'* (७। ४५। ८)

विप्रपदपूजाके समान दूसरा उपाय शत्रुपराजयका नहीं है। भगवान् विष्णुने विप्रचरण, भृगुलता अपने उरमें धारण कर समस्त दैत्योंको जीत लिया, वही यहाँ दिखाते हैं।

वे० भू०—विप्रपूजाका माहात्म्य बताते हुए वेदका कहना है कि **'जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडिका दन्तास्य शानिदिग्धाः। तेभिर्ब्रह्मा विध्यति दे पीयून हृद्बलैर्धनुभिर्देव जूतैः॥'** (अथर्व० ५। १८८) अर्थात् ब्राह्मणकी जिह्वा प्रत्यञ्चा होती है, वाणी बाणादाम बनती है, तपसे प्रकाशित दाँत बाणके पंख बनते हैं। देवताओंसे प्राप्त ब्राह्मण अपने अनुयायियोंके क्रोध, लोभ, कामादि शत्रुओंको आत्मबलरूपी धनुषसे मारता है इत्यादि।

खर्रा—विप्र और गुरुपूजा दो कवच कहे—एक लोहमय, एक वस्त्रमय। [नंगे शरीरपर कवच नहीं पहना जाता। उसके नीचे एक कोमल सुपुष्ट वस्त्र पहना जाता है। वह भी कवचका अंश हुआ। वही धर्मरथीके लिये विप्रपूजा है। विप्रपूजा कवचका स्तर (नीचेका अंश) है, गुरुपूजा ऊपरका अंश है। (वे० भू०)]

बाबा जानकीदासजी—विप्रपूजा कवच है, गुरुपूजा कवचकी अभेद्यता है। जबतक जीव गुरुमुख नहीं होता तबतक भगवत्-भागवत-धर्म वा भक्तिसे अन्तर रहता है। वह कर्मकाण्ड आदिमें लगा रहता है। जब गुरुमुख हुआ तब भगवत्-भागवत-धर्ममें आरूढ़ हुआ। यही कवचकी अभेद्यता है। [भाव कि विप्र-वेद-धर्म-शिक्षक हैं। इससे केवल विप्रपदपूजा भेद्य-कवच है। और गुरु भगवद्धर्मका शिक्षक है। इससे गुरुपदपूजा होनेसे वह कवच अभेद्य हो जाता है।—(शीला)]

वि० त्रि०—ब्राह्मण और गुरुकी पूजामें छिद्र न हो तो पूजकपर शत्रुका शस्त्र कुछ भी काम नहीं कर सकता। क्योंकि ब्राह्मणोंका बल तप है, यथा—*'तपबल बिप्र सदा बरिआरा।'* तपस्वी ब्राह्मणके प्रसादसे सदा रक्षा होती है और *'राखै गुरु जो कोप बिधाता॥'* फिर शत्रु क्या कर सकता है? इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं कि *'इहि सम बिजय उपाय न दूजा।'* अर्थात् विजयके उपाय दुर्ग, सेना और भौतिक रथादि बहुत हैं, परन्तु इसके बराबर कोई नहीं है। क्योंकि उनके होते हुए भी पराजय बराबर देखी जाती है।

सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥ ११॥

अर्थ—हे सखे! ऐसा धर्ममय रथ जिसके हो, उसके लिये जीतनेको कहीं भी शत्रु नहीं है।

पु० रा० कु०—धर्ममय अर्थात् जिसमें धर्मकी प्रचुरता वा बाहुल्यता है। *'अस'*, यथा—*'बिप्र चरन पंकज अति प्रेमा।'*

नोट—१ *'धर्ममय अस रथ'* से जनाया कि इस रथके जितने अङ्ग ऊपर कहे हैं, वे सब भी धर्म ही हैं। *'जाके'* अर्थात् जिसके पास हो, वह ही शत्रु-रहित हो सकता है। आशयसे जनाया कि ये सब अङ्ग हममें स्थित हैं; इससे रावणको पराजित ही समझो। प्रभुमें इन सबका समावेश नीचे दिखाया जायगा।

नोट—२ *'जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।'* भाव कि कोई शत्रु रह ही नहीं जाता, जिसे जीतनेका प्रयत्न करना पड़े। शत्रु देखनेमात्रको है, नहीं तो वह मारा हुआ है ही।

नोट—३ वीर योद्धाओंके रथमें ये सब अङ्ग होते हैं जो यहाँ कहे गये—(१) दो पहिये। (२) ध्वजा, पताका। (३) घोड़े। (४) घोड़े रथमें रस्सीसे जुते हुए। (५) सुजान सारथी। (६) ढाल। (७) तलवार। (८) फरसा। (९) शक्ति। (१०) कोदण्ड। (११) तरकश। (१२) बाण। (१३) कवच।

क्रमसे धर्ममय रथके अङ्ग ये हैं—(१) शौर्य, धैर्य। (२) सत्य, शील। (३) बल, विवेक, दम, परहित। (४) क्षमा, कृपा, समता। (५) ईश-भजन। (६) वैराग्य। (७) सन्तोष। (८) दान। (९) बुद्धि। (१०) वर विज्ञान। (११) निर्मल अचल मन। (१२) शम, यम, नियम। (१३) विप्रपूजा और गुरुपूजा।

नोट—४ ☞ श्रीरामजीमें ये सब अङ्ग हैं—*'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।'*

अङ्ग		उदाहरण
शौर्य	१	*'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न जाइहि पूरा॥'* (३। २५। ८)
धैर्य		*'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* (२। ८२। १)
सत्य	२	*'सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥'* (३। २७। ५), *'सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाज॥'* (२। २६४), *'राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि॥'* (५। ४१)
शील		*'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू।''''''''''''चले सबेग राम तेहि काला॥'* (२। २४३। १-२), *'राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सील सनेह॥'* (अ० २९२), *'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥'* (१। २९)
बल	३	*'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जान नहिं पाई॥'* (३। २। १२), *'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह॥'* (३। ९), *'जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥'* (३। ३१) यह आत्मबल है।
विवेक		*'प्रभु करुनामय परम बिबेकी।'* (२। ९७), *'गुन ज्ञान निधान अमान अजं।'*, *'गतक्रोध सदा प्रभु बोधमयं।'* (६। ११० छंद)
दम		*'राम पुनीत बिषय रस रूखे।'* (२। १७९। ७), *'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।'* (२। ३२। ६)

परहित *'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार॥'* (१। १९२)

क्षमा *'छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता'*—(परशुरामवाक्य)

कृपा *'प्रभु छाँड़ेउ करि छोह को कृपालु रघुबीर सम।'* (३। २), *'कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन।'* (१। २०८), *'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'* (सुं०)

समता *'कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।'* (४। ७), *'सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान।'* (२। २२७), *'सब पर मोरि बराबरि दाया'*, *'बैरभाव मोहि सुमिरत निसिचर'*, *'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥'* (२। २१९)

ईशभजन ५ *'पूजि पारथिव नायउ माथा।'* (२। १०३), *'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।'* (६। २। ६) *'रघुबर संध्या करन सिधाए।'*

विरति ६ *'राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ की नाईं'* (क) *'नवगयंद रघुबीर मनु राजु अलान समान। छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंद अधिकान॥'* (२। ५१), *'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर। बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥'* (अ० १६५), *'लोभ न रामहिं राज कर''''''।'*

सन्तोष ७ *'पूरन काम राम परितोषे'*, *'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें'*, *'तुम्ह परिपूरन काम'''।' 'नाहिं न राम राज के भूखे।'*

दान ८ *'बिबिध दान महिदेवन्ह पाए'*, *'कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ दान बिबिध बिधि दीन्ह।'*, *'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे'*, *'मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि।'*

बुद्धि ९ *'खरदूषन बिराध बध पंडित'*, *'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥'* (५। ५६। १)

वर विज्ञान १० *'विज्ञानधामावुभौ।'* (कि० मं० श्लोक १)

अमल मन ११ *'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥'* (१। २३१। ६)

अचल मन *'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा॥'* (७। ९२। ३)

शम, यम, नियम } १२ इनके उदाहरणमें सरकारके दिनचर्यासम्बन्धी सभी अंश अवतरणीय हैं, यहाँ पूरे उद्धरणसे विषय बहुत बढ़ जायगा।

'तापस बेष बिसेष उदासी' 'पहिरे बलकल चीर', *'योगीन्द्रम्'* (इसी काण्डके मङ्गलाचरणमें विशेषण दिया है। शम, यम, नियम सब योगमें आ जाते हैं), *'राम लषन सिय बिनु पगु पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥'*, *'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात। बसि तरुतर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥'* (अ० २११)

विप्रपूजा १३ *'बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत।'*

गुरुपूजा *'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥''''''''सोरह भाँति पूजि सनमानी।'* (२। ९। २-३)

वे० भू०—विभीषणजीको उपदेश देनेके समयके पूर्व क्षणतक ही श्रीरामजीकी माधुर्यलीलामें धर्मरथके बाईसों अङ्गोंका होना सिद्ध होना चाहिये, तभी उपदेशकी गम्भीरता है, उत्तरकालमें नहीं। उत्तरकालीन प्रमाण उद्धृत करनेसे तो यही सिद्ध होगा कि अभीतक श्रीरामजीमें उन-उन गुणोंकी कमी है।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजीने इन अङ्गोंके उदाहरण ये दिये हैं—

१ शौर्य्य—*'एक बार कैसिउ सुधि पावउँ। कालहु जीति निमिष महँ आनउँ॥'* २ धैर्य—*'जौं रन हमहिं प्रचारै कोई। लरैं सुखेन काल किन होई॥'* ३ सत्य—*'सखा बचन मम मृषा न होई।'* ४ शील—*'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सीलनिधान।'* ५ विवेक—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* ६ दम—*'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।'*, *'राम सुजान बिषयरस रूखे।'* ७ परहित—*'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'* ८ क्षमा—*'निज अपराध रिसाहिं न काऊ।'* ९ कृपा—*'निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुनाथ नयन जल छाए॥'*, *'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥'* १० समता—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'* ११ ईशभजन—*'पूजि पारथिव नायउ माथा।'* १२ विरति—*'नवगयंद रघुबीर मन राज अलान समान। छूट जानि बनगमन सुनि उर आनँद अधिकान॥'* १३ सन्तोष—*'सकृत प्रनाम किये अपनाये।'* १४ दान—*'जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह

दिये दस माथ। सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥' १५ बुद्धि—*'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥ खरदूषन बिराध बध पंडित।'* १६ वर विज्ञान—*'जथा अनेक रूप धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ॥'* १७ संयम-नियम—**'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितम्'**, *'अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिलि सबहि कृपाला॥'* १८ विप्रगुरुपूजा—*'अस कहि रथ रघुनाथ चलावा। बिप्र-चरन-पंकज सिर नावा॥'*, *'गुरुपद पदुम पलोटत प्रीते।'* १९ धर्ममय रथ—*'चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥'*

प० प० प्र०—१ *'धर्ममय'* इति। मिलान कीजिये *'अयमय खाँड न ऊखमय।'* (१। २७५), *'अयमय और ऊखमय'* में उपादान कारणका बोध ही *'मय'* प्रत्ययसे होता है। वैसे ही **'धर्ममय'**=धर्मका ही बनाया हुआ।

प० प० प्र०—२ श्रीरामजीमें और लखनलालजीमें भी इस रथके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग मानसमें ही वर्णित हैं। परशुरामकृत स्तुतिमें ही इनमेंसे बहुत-से अङ्गोंका वर्णन मिलता है, तथा **'कुन्देन्दीवरसुन्दरौ………'** (कि० मं० श्लोक १) में भी तीनोंका मिलान—

धर्ममय रथ	परशुराम-स्तुति	किष्किन्धा-मङ्गलाचरण श्लोक १
सत्य, शील	*विनय शील सागर केतू*	
शौर्य, धैर्य	परशुराम प्रसंगभरमें हैं।	**वरधन्विनौ**
बल, विवेक, दम, परहित	दनुजकुलदहन, भानु, सुरधेनु हितकारी।	**अतिबलौ, हितौ**
क्षमा, कृपा, समता	छमामन्दिर, करुणासागर, सब सुखद	**रघुवरौ,**
ईसभजन, विरति	**महेस मन मानस हंसा, कृशानू**	**सद्धर्मवर्मौ,**
विप्र गुर पूजा	सुर-बिप्रहितकारी	**गोविप्रवृन्दप्रियौ**
वरविज्ञान	भानु	**विज्ञानधामावुभौ।**
दान	सेवक सुखद	**भक्तिप्रदौ,**
शेष सब गुण	गुणसागर	
मद मोह कोह भ्रम हारी	सक्ति, कृपाण, बुद्धि, सन्तोष	

रावण प्रायः इन सब अङ्गोंसे रहित है—(१) संन्यासी और चोर बननेसे शौर्य-धैर्यरहित। (२) अरण्यकाण्डमें जो उसने प्रतिज्ञा की थी कि *'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा।………तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ॥'* इत्यादि, उसे पूरा न कर सका, इससे सत्यरहित। (३) श्रीसीताजीकी चोरीसे शीलराहित्य। (४) *'कहाँ रहा बलगर्ब तुम्हारा'* से बलरहित (५) *'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता'* से विवेकराहित्य। (६) वृद्ध मंत्री माल्यवान् तथा प्रहस्त आदिको कटु वचन कहनेसे दमराहित्य। (७) विश्वद्रोहरत खल होनेसे परहितविघातक। (८) विभीषण, माल्यवान्, मारीच, कालनेमि, प्रहस्त, शुक आदिको मारा या मारनेको उद्यत होने इत्यादिसे क्षमाहीन। (९) *'हिंसक, देवपरितापी'* होनेसे कृपारहित। (१०) मंदोदरी और श्रीसीताजी दोनोंने उसे खद्योत और श्रीरामजीको दिनकर कहा। उसने मंदोदरीको कुछ न कहा पर सीताजीको मारनेको उद्यत हुआ। कान्तासम्मितवाक्यमें क्रोधाभाव हुआ। इससे समतारहित। (११) *'करसि पान सोवसि दिन राती'* से विरतिरहित। (१२) सीताहरण तथा उनको वशमें करनेके प्रयत्नसे सन्तोषका अभाव। (१३) सुर, विप्र, सन्त आदि सभीका विरोधी होनेसे दानरहित। (१४) *'तव उर कुमति बसी बिपरीता'* से बुद्धिहीन। (१५) *'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥'* से विज्ञानका अभाव। (१६) आकाशगमन, अमितरामरूप, हनुमान्‌रूप आदि प्रकट करना 'संयम-नियम'-राहित्य। (१७) *'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँउ पुर आगि लगावहिं॥'* से विप्रगुरुपूजाका अभाव। और (१८) *'धर्म सुनिअ नहिं काना'* से धर्ममय रथहीन सूचित किया।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि रावणके पास धर्ममय रथ नहीं है, इसीसे उसके भाई, नाना, पुत्र, मन्त्री

आदि सभी शत्रु हैं। जिसके अन्तरङ्गमें शत्रु, उसको बाहर भी शत्रु होंगे ही। देव, विप्र आदि सभी शत्रु हैं।

नोट—५ कठोपनिषद्में यमराजजीने नचिकेताजीसे भी एक रथका रूपक कहा है जो इस प्रकार है—**'आत्मानःरथिनं विद्धि शरीरःरथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाःस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥'** (१।३।३-४) अर्थात् तू आत्माको रथी जान, शरीरको रथ समझ, बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम समझ। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़ेरूपसे कल्पित किये जानेपर विषयोंको उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं।

इसके अनन्तर श्रुति ५ में अविवेकीकी विवशता, श्रुति ६ में विवेकीकी स्वाधीनता और श्रुति ७ में अविवेकीकी संसारप्राप्ति कहकर श्रुति ८-९ में विवेकीकी परमपद-प्राप्ति कही है।

महाभारतमें भी ऐसे रूपक आये हैं। पर मानसके रूपकसे मिलते नहीं हैं। इससे यहाँ उन रूपकोंका उल्लेख नहीं किया गया।

नोट—६ *'सुनहु सखा कह कृपानिधाना'* उपक्रम और *'सखा धर्ममय·········'* उपसंहार है।

दो०—महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर॥ ७९ (क)॥

अर्थ—हे मतिधीर मित्र! सुनो, जिस वीरके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह महादुर्जय संसार-शत्रुको (भी) जीत सकता है। (तब रावणादिका जीतना कौन बड़ी बात है?)॥ ७९ (क)॥

वि० त्रि०—१ संसार-शत्रु महा अजय है। क्योंकि यहाँ यह बात नहीं है कि देश अलग हो और सेना अलग हो। यहाँ तो देश-का-देश सेना है, यथा—*'ब्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादिभट दंभ कपट पाखंड॥'* (७।७१) इनमेंसे एक-एक महा अजय है। रावणने इन्द्रादिको जीता, पर कामादिसे वह स्वयं हारा हुआ है।

वि० त्रि० २—*'महा अजय संसार रिपु·········'* का भाव कि रावण तो केवल अजेय है, इसको जीतना कौन-सी बात है, यथा—*'तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीतेउँ अजय निसाचरराऊ॥'* (१११।३), *'देखि अजय रिपु डरपे कीसा।'* ३—*'रथ होइ दृढ़'* का भाव कि ऐसा रथ होनेपर भी यदि दृढ़ न हुआ, ढीला-ढाला रह गया, तो भी वह संग्राम-योग्य न होगा। ४—*'सुनहु सखा मतिधीर।'* मतिधीर सखा कहनेका भाव कि यह उपदेश हमारे सखाकी श्रेणीके लोगोंके लिये है, जो मतिधीर हैं। दूसरा इसको सुनकर भी धारण नहीं कर सकता।

जा० दा०—१ इस प्रसङ्गमें *'दृढ़'* का सम्पुट है। *'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका'* उपक्रम है और यहाँ *'जाके अस रथ होइ दृढ़·········'* उसका उपसंहार है। २—उपक्रममें विभीषणको 'अधीर' कहा था, यथा—*'देखि बिभीषन भयउ अधीरा।'* यहाँ धर्मरथका उपदेश सुनकर वह अधीरता मिट गयी, इसीसे अब उनको *'मति धीर'* कहा।

☞इससे जनाया कि जो त्रैलोक्यको भी जीत ले और मोहादिको वा अपनेको न जीत सके, वह वीर नहीं है। दोहेका पूर्वार्ध *'बीर'* की व्याख्या है।

[उत्तरार्धसे यह भी जनाया कि जिसके पास धर्ममय दृढ़ रथ नहीं है, उन्हें संसार-रिपु जीत लेगा। (प० प० प्र०)]

वे० भू०—रावण स्वयं अजेय था किंतु उसके सैनिक अजेय नहीं थे। संसार-मायाके सभी सैनिक भी अजेय हैं। इसलिये वह (संसाररिपु) स्वयं महा अजय है। संसार-रिपुके महा अजय सैनिकोंमेंसे कुछके नाम मानसमें ये हैं—(*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥'*) *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥ तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि के हृदय क्रोध नहिं दाहा॥*

ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि के लोभ बिडंबना कीन्ह न यहि संसार॥ श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि ममता बधिर न काहि। मृगलोचनिके नैन सर को अस लाग न जाहि॥ गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥ यौवन ज्वर केहि नहिं बलकावा। काहि न सोकसमीर डोलावा॥॥ मत्सर काहि कलंक न लावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥ चिंता साँपिनि काहि न खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥ कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥ सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि के मति इन्ह कृत न मलीनी॥ ब्यापि रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥'

संसाररिपुके ये रेखांकित सभी सैनिक सब अजेय थे और सबने रावणको वश कर रखा था। रावण-के पास इस धर्मरथके कुछ अङ्ग थे, जैसे—(१) शौर्य—*'शूर कवन रावण सरिस, सुत प्रसिद्ध शक्रारि।'* (२) धैर्य—*'चला न अचल रहा रथ रोपी।'* (३) बल—*'तव बल नाथ डोल नित धरनी।'* (४) ईशभजन—कहनेको तो रावण शिवभक्त था, परन्तु था नहीं, अपितु—*'बेद पढ़ै बिधि, शंभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं।'* (क०)

अन्य कोई भी धर्मरथका अङ्ग रावणके पास नहीं था, वरन् रावणमें तो अन्य सभी धर्माङ्गोंके विपरीत पापाङ्ग थे। और विभीषणके पास धर्मरथके अङ्गोंमें अधिकांश हैं। कुछ रावणके पास भी हैं, इसीसे जब दोनों (रावण-विभीषण) साथ थे तब वह कामचलाऊमात्र पूर्ण था। परन्तु दोनोंके अलग होते ही रथ छिन्न-भिन्न हो गया—अधिकांश विभीषणके पास चला गया। इसीसे—*'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥'*

वे० भू०—*'जीति सकै सो बीर'* इति। मिलान कीजिये—**'अभीदमेकमेकोऽस्मि निष्षाऽभीद्वा किमु त्रयः किरन्ति पलेन पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिद्राः॥'** (ऋ० १०। ४८। ७, नि० ३। १०) अर्थात् यद्यपि मैं सब तरफसे सर्वथा अकेला हूँ तो भी ये एक (मोह), दो (मायामोह) अथवा तीन (काम, क्रोध, लोभ) अथवा सब वस्तुओंसे माया-संसारके सैनिक एक साथ मिलकर मेरा क्या कर लेंगे? मैं तो अब इस माया कटकको इस तरह मार डालूँगा जैसे खलिहान राहामें अन्नकी डण्ठलको कुचल डालते हैं। जो (माया और उसका परिवार) चेतनारहित हैं, वे शत्रुगण क्या मेरी निन्दा कर सकते हैं? कदापि नहीं। विनयमें भी कहा है—*'पर बस जानि हँस्यो इन इंद्रिन्ह निज बस होइ न हँसैहौं।'*

वीरकवि—यहाँतक साङ्गरूपकका वर्णन हुआ। प्रस्तुत वृत्तान्त तो रावणसे जीतनेके लिये रथका वर्णन है, उसे न कहकर उसका प्रतिबिम्बमात्र कहना 'ललित अलङ्कार' है। विजयरथके बहाने रावणके जीतनेकी बात न कहकर संसारशत्रुके जीतनेकी बात कहना 'कैतवाह्नुति' अलङ्कारकी ध्वनि है। जो संसार-शत्रुको जीत सकता है, उसे रावणका जीतना क्या है? वह तो जीता-जिताया ही है—यह व्यङ्ग्यार्थसे 'काव्यार्थापत्ति अलङ्कार' है।

दो०—सुनि प्रभु बचन बिभीषन* हरषि गहे पदकंज।
एहि मिस मोहि उपदेसेहु† राम कृपा सुख पुंज॥ ७९ (ख)॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर विभीषणजीने हर्षित होकर उनके चरणकमलोंको पकड़ लिया और बोले—हे कृपा और सुखके समूह श्रीरामजी! आपने इस बहाने मुझे (सनातनधर्मका) उपदेश किया॥ ७९ (ख)॥

नोट १☞—त्रेतायुगमें रणभूमिमें भगवान्ने सखा विभीषणको धर्मोपदेश दिया और द्वापरमें सखा अर्जुनको भी रणक्षेत्रमें ही गीताका उपदेश दिया।

नोट—२ उपदेश सुनकर हर्षित होकर प्रणाम करना कृतज्ञता सूचित करता है। उत्तम लोगोंकी यह रीति है। मिलान कीजिये—

श्रीलक्ष्मणजी—*'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥'* (३। १७। १)

---

* सुनत बिभीषन प्रभु बचन। † उपदेस दिअ—(का०)।